फ़िराक़

पंकज गर्ग अमूपुर

BlueRose ONE .com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Pankaj Garg Amupur 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7825-582-3

Cover design: Anuj
Typesetting: Tanya Raj Upadhyay

First Edition: April 2026

Acknowledgement

मेरे लेखन के सफ़र की शुरुआत उस दिन से हुई, जब मैंने यूनिवर्सिटी में अपना पहला उपन्यास, जिसका नाम था **Revolution 2020 by Chetan Bhagat** जिसे मैंने और मेरे **"रूममेट"** विकास सैनी ने एक साथ एक ही समय पर पढ़ा। उस उपन्यास में एक ऐसा वाक्य था, जिसमें हमें लगा कि पूरे उपन्यास का सार निहित है। जो इस प्रकार था - " **Life is a bitch when the only woman you can think of belongs to someone else**". इस वाक्य का विकास ने फ़ेसबुक पर स्टेटस लगाया और मैंने स्टेटस लगाया कि **Reading Revolution 2020 with Vikash Saini** and **29 others** . इस बात का बाद में बहुत मज़ाक बना। साथियों ने पूछा कि सारे लोग उपन्यास को एक ही कमरे में बैठकर पढ़ रहे थे या अलग-अलग कमरों में बैठे थे। खैर फिर उसके बाद धीरे-धीरे किताबें पढ़ने का सिलसिला शुरू हो गया। फिर मेरा एक दोस्त प्रदीप सिरोही, जो अब ऑस्ट्रेलिया में है, मैं उससे किताबों के बारे में बातचीत किया करता था। वह डे-स्कॉलर था पर जाता वो घर रात को ही था। मेरी क्लास वाले मज़ाक में कहते थे कि यह तेरा दोस्त नहीं, तेरी गर्लफ्रेंड है। फिर मेरी डिग्री पूरी हुई और नौकरी लग गई लेकिन दिल नहीं लगा और किताबें पढ़ने का सिलसिला यूँ ही चलता रहा। बीच-बीच में कुछ लिखने का मन भी करता था, पर फिर लगता था कि इसके लिए तो साहित्य से संबंधित बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ होनी चाहिए। यह सोचकर कलम हाथ से छूट जाती थी। फिर एक दिन मैंने विनोद कुमार शुक्ल जी की एक कृति **"दीवार में एक खिड़की रहती थी"** पढ़ी। उसे पढ़कर मैं उनके लेखन का दीवाना हो गया। जब मैंने उनकी शिक्षा-दीक्षा के बारे में खोजा तो पता चला कि उन्होंने भी कृषि विज्ञान की ही पढ़ाई की है और साहित्य से संबंधित कोई भारी-भरकम डिग्री नहीं ली। तब मेरा आत्मविश्वास थोड़ा बढ़ा और लगा कि अनुभव और

परिश्रम से व्यक्ति किसी भी चीज़ की शुरुआत तो कर ही सकता है, चाहे उसके पास उस क्षेत्र की कोई डिग्री हो या न हो। फिर जैसे ही मैंने लिखना शुरू किया, मुझे पहला रिव्यू मेरी यूनिवर्सिटी के साथी और दफ़्तर में साथ काम करने वाले साहिल सागवाल से मिला। उसने हमारे सर्कल में शायद सबसे ज़्यादा किताबें पढ़ी हैं, इसलिए उसने मुझे कुछ अहम टिप्स दिए जिनके सहारे मैं आगे बढ़ता गया। फिर बारी आती है गगनदीप कंबोज की, जिसने एक Critic की भूमिका बहुत अच्छे से निभाई। जब मैंने उसे बताया कि मैं किताब लिख रहा हूँ, पहले तो वह हँसने लगा और कहने लगा कि हमारी भाषा में इसे 'Lacchan' कहते हैं। फिर मैंने कहा— चल भाई, कोई बात नहीं, मैं इसे किताब समझकर लिख लेता हूँ और तू 'Lacchan' समझकर पढ़ लेना। उसके बाद मैं जो भी लिखता, सबसे पहले गगन को ही दिखाता। जब वह हरी झंडी देता, तभी आगे बढ़ता, क्योंकि अगर एक बार गगन ने कह दिया कि ठीक है तो फिर सच में ठीक ही है और फिर दुनिया में उसे कोई भी ख़राब नहीं बता सकता। फिर मेरे ही दफ़्तर के शाखा प्रबंधक महोदय गौरव सागवाल जी ने मुझसे कहा कि वैसे तो सब ठीक है, बस शैली थोड़ी और सुधारो और मुझे प्रेमचंद की "पूस की रात" पढ़ने की सलाह दी। एक बार उन्होंने मेरी गाड़ी में धर्मवीर भारती का उपन्यास "गुनाहों का देवता" रखा देखा, तब से वे मज़ाक में मुझे "गुनाहों का देवता" कहकर पुकारने लगे। फिर बीच में हमारे डॉक्टर साहब, विशाल सागवाल जी ने मुझे टॉलस्टॉय पढ़ने की सलाह दी, जिसे मैं मानने ही वाला था कि पता चला वह तो मेरे साथ वही वाला मज़ाक कर रहे थे—जंगल में एक चूहा था और एक शेर बैठा हुआ शराब पी रहा था। चूहे ने शेर से कहा, "हे जंगल के राजा, उठो, शराब का परित्याग करो और देखो दुनिया कितनी खूबसूरत है।" शेर उठकर चूहे के साथ चल दिया। बाकी की बात आगे करेंगे। फिर यूँ ही इस उपन्यास की रचना का सफ़र निरंतर चलता रहा।

Preface

हम चार दोस्त जयपुर घूमने निकले थे। मन में प्लान कम और जोश ज़्यादा था। हम चारों अलग-अलग मन लेकर चल रहे थे। कोई अपने अतीत से भाग रहा था, कोई भविष्य की तरफ दौड़ रहा था और कोई बस वर्तमान को जीने की कोशिश कर रहा था। राजस्थान की सीमा में घुसते ही लगा जैसे सरकार को हमारी यात्रा की भनक पहले ही लग गई थी। वहाँ प्रवेश करते ही पुलिस ने गाड़ी रोक ली। ओवरस्पीडिंग का आरोप लगा। हम सच में गाड़ी तेज़ नहीं चला रहे थे, लेकिन हाईवे पर 80 की स्पीड लिमिट वैसी ही थी जैसे खाली मैदान में रस्सी बाँध देना। हमने कहा कि हम धीरे चल रहे थे। पुलिस ने कहा मशीन ने तेज़ बताया है। मशीन को शायद हवा ज़्यादा तेज़ लग रही थी। दो हज़ार का चालान बना। हमने पाँच सौ दिए। बचे हुए पंद्रह सौ कहीं हवा में रह गए। इस तरह हमने देश की अर्थव्यवस्था में योगदान की बजाए पुलिस बंधुओ की गृह व्यवस्था में योगदान दिया।

जब आमेर पहुँचे तो रात अपने काले आँचल से पहाड़ियों को ढँक चुकी थी। किले की परछाइयाँ चुपचाप खड़ी थीं, मानो इतिहास हमें देख रहा हो। रात बहुत ज़्यादा अँधेरी नहीं थी, बस उतनी जितनी ज़रूरी होती है ताकि आदमी को पता लग जाए कि रात सोने के लिए होती है। हमने पास के एक होटल में कमरा लिया। कमरा साधारण था, लेकिन हमारी थकान को उसकी सादगी से कोई शिकायत नहीं थी। खाना आया, रोटी गोल थी, दाल पतली थी। हम सीधे बैठे खा रहे थे, जैसे किसी तस्वीर में हों। खाते समय कोई ज़्यादा नहीं बोला। बोलने से पहले शब्द भी थक जाते हैं। मौन ही हमारा संवाद था। खाना खाया

तो लगा कि दुनिया की सारी परेशानियाँ प्लेट में दब गई हैं। उसके बाद बिस्तर पर गिरे और ऐसे सोए जैसे अलार्म नहीं, ज़िम्मेदारियाँ भी छुट्टी पर हों।

सुबह धूप खिड़की से अंदर आई। वह बिना पूछे अंदर आ गई। हमें बुरा नहीं लगा। बाहर जयपुर था ,भीतर हम थे। दोनों पहली बार मिल रहे थे। हम उठे , धीरे-धीरे उठे , जैसे शहर के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना हो। सुबह नित्यकर्म से निवृत्त होकर हम जयपुर की ओर चल पड़े। रास्ते में हाथियों का एक झुंड दिखाई दिया। वे चुपचाप, एक पंक्ति में, मानो किसी अदृश्य अनुशासन के बंधन में बँधे हों, धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। मन में विचार आया कि कहीं नियम की डंडा-धारी नज़र इन पर भी न पड़ जाए। चालान कटे तो बेचारे पैसे कहाँ से देगें? जेल हुई तो जेल भी बड़ी बनानी पड़ेगी। उस व्यय का भार अंततः जनता की ही पीठ पर पड़ेगा। फिर टैक्स हम देंगे, उद्घाटन कोई नेता करेगा। तभी समझ आया — हाथी का धीरे चलना उसके वजन की वजह से नहीं है, बल्कि देश की अर्थव्यवस्था के प्रति उसकी जिम्मेदारी की वजह से है। इस तरह हाथी आराम से चलकर और मानव जाति गाड़ी तेज़ चला कर अपने अपने तरीके से देश की अर्थव्यवस्था में योगदान दे रहे है।

इन्हीं ज्ञानवर्धक विचारों के साथ हम जयपुर पहुँच गए। अल्बर्ट हॉल देखा, जंतर-मंतर में खड़े होकर ब्रह्मांड को समझने की कोशिश की (जो पाँच मिनट में हार मान गई), नाहरगढ़ और जयगढ़ के किलों पर जाकर इतिहास के साथ सेल्फी ली और हवा महल के सामने खड़े होकर हवा को महसूस किया — जो वैसे भी नहीं आई। शाम को सीधे मयखाने में पहुँचे। दिनभर संस्कृति पी थी, अब थोड़ा सा आधुनिकता पीने का मन था। गिलास उठाया, दोस्त मुस्कराए और लगा कि ट्रैवल का असली मज़ा यही है। घूमना बाहर होता है, लेकिन कहानियाँ भीतर बनती हैं। रोशनी थी, संगीत था, गिलास में चमकता तरल था — पर मन कहीं और था। बाहर शहर धड़क रहा था और भीतर

सवाल गूँज रहा था कि क्या हम सचमुच जी रहे हैं या सिर्फ़ तेज़ी से आगे बढ़ते हुए जीवन को पीछे छोड़ते जा रहे हैं? ये बात काफ़ी हद तक सही है कि शराब सिर्फ़ एक नशा नहीं **Social drink** है। शराब अक्सर किसी मौके, महफ़िल या बहाने के साथ जुड़ी होती है । अकेले भी पी जा सकती है, लेकिन समाज ने उसे साथ बैठकर पीने की चीज़ बना दिया है। शराब दरअसल नशा कम और बातचीत ज़्यादा है। गिलास भरते ही लोग भी खुलने लगते हैं—कोई अपने एक्स का ज़िक्र करता है, कोई बॉस को गाली देता है, कोई अचानक बहुत दार्शनिक हो जाता है। शराब महफ़िल में इसलिए ठीक लगती है क्योंकि वहाँ अकेलापन भी थोड़ा कम अकेला लगता है। इसके उलट धूम्रपान, गांजा, चरस जैसी चीज़ें टेंशन, अकेलापन, आदत या बस रूटीन की वजह से होती है जो दूसरों की मौजूदगी मांगती भी नहीं, और अगर कोई मौजूद हो तो उसकी मौजूदगी सह भी लेती है। मैंने इधर-उधर देखा। सामने एक मेज़ थी। उस पर एक लड़की और दो लड़के बैठे थे। वे अपने-अपने फोन देख रहे थे। फोन बहुत ध्यान से देखे जा रहे थे। आपस में देखने की ज़रूरत शायद नहीं थी। समय धीरे-धीरे उनके पास बैठा रहा। आधा घंटा यूँ ही बीत गया। बात न होने से कोई कमी नहीं दिखी। लगता था जैसे बातचीत कहीं और हो रही हो और ये तीनों यहाँ सिर्फ़ कुर्सियों को भरने आए हों। मुझे लगा, यह केवल तीन लोगों का मौन नहीं था, बल्कि हमारे समय की एक थकी हुई स्वीकृति थी कि अब हम साथ बैठकर भी अकेले रहने के आदी हो चुके हैं।

बगल वाली टेबल पर एक आदमी बैठा था। काला कोट पहने हुए, अकेला। सामने एक ही गिलास। पहली नज़र में लगा—शायद कोई आने वाला है। दूसरी नज़र में समझ आया—नहीं, वह यूँ ही बैठा है, अपने साथ। काला कोट देख कर अनुमान लगाना कठिन न था कि वह वकील होगा और अदालत से सीधे यहीं आ पहुँचा है। बहसें पीछे छूट गई होंगी, पसीना अब भी माथे पर अटका होगा। बाहर मई की आग बरस रही थी और वह आदमी अंग्रेज़ों की बनाई

ठंडी सभ्यता का काला खोल ओढ़े बैठा था। अजीब बात है कि यह देश बदल गया, पर उसकी गर्मी के लिए किसी ने नियम नहीं बदले। जैसे कह रहा हो कि तुम बदलो, मैं नहीं बदलूँगा। ये नियम अंग्रेज़ों ने बनाए थे, ठंडे देशों में बैठ कर। वैसे सच तो ये है कि अकेला यह कोट नहीं है , ऐसे कई नियम हैं जो आज़ादी के बाद भी हमारे साथ लगे चले आ रहे हैं। हमने उन्हें ढोना सीख लिया है। जैसे हम आज़ाद तो हो गए पर अपने शरीर और अपनी ज़मीन की भाषा समझने की फुरसत अब तक नहीं मिली। सवाल करना शायद भूल गए हैं। वह आदमी पीता रहा। मैं देखता रहा और हमारे बीच एक पूरा सिस्टम चुपचाप बैठा रहा— काले कोट में। शायद हम दोनों ही किसी ऐसी व्यवस्था के भीतर बैठे थे जो अब बहुत पुरानी हो चुकी है, लेकिन फिर भी रोज़ हमारे सामने खड़ी हो जाती है—काले कोट की तरह।

जब मैंने उस आदमी की आँखों में झाँका, तो वे लाल थीं— ऐसी लालिमा जिसमें नशे से ज़्यादा पीड़ा घुली हुई थी। पलकों पर रुके आँसू किसी पुराने ज़ख़्म की तरह थे, जिन्हें वह छिपाने की नाकाम कोशिश कर रहा था। वह कब से अकेला पी रहा था, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता था कि वह आधी बोतल अकेला खत्म कर चुका था। उधर हम चार लोगों ने मिलकर सिर्फ एक ही बोतल खत्म की थी और अब लौटने की तैयारी कर रहे थे। हँसी-ठिठोली की आवाज़ें अचानक मुझे बोझिल लगने लगीं। हम चलने ही वाले थे कि न जाने मेरे मन में क्या आया। मैंने साथियों से कहा—“तुम लोग जाओ , मैं थोड़ी देर में आ जाऊँगा।” यह वाक्य कहते हुए मेरी उँगली अनायास ही उस आदमी की ओर उठ गई। उस क्षण मुझे लगा मानो उसके पास रुकना सिर्फ़ एक फैसला नहीं बल्कि किसी अनकहे दर्द की तरफ़ बढ़ना था। कभी-कभी हम किसी अजनबी के पास इसलिए रुकते हैं क्योंकि उसकी ख़ामोशी हमें अपनी जैसी लगती है। मैंने उसकी आँखों में देखा और लगा कि जैसे किसी ने भीतर का अँधेरा खोल दिया हो। आँखें लाल थीं, लेकिन वह लालिमा शराब

की नहीं थी। वह उस आग की थी जो देर तक जलती रहती है और धुआँ भी नहीं उठने देती। आँसू थे, पर वे गिरने से पहले ही थक चुके थे।

मैं उसके पास गया और संकोच से पूछा, “आप अकेले बैठे हैं, क्या मैं यहाँ बैठ सकता हूँ?” उसने मेरी ओर देखा, हल्की-सी मुस्कान आई और हाथ बढ़ाकर बोला, “आइए।” उसका हाथ गर्म था, जैसे शराब ने उसकी नसों में आग भर दी हो। मैं बैठा ही था कि उसने वेटर को इशारा किया। वेटर एक खाली गिलास ले आया। वह मेरे लिए पैग बनाने लगा तो मैंने मना किया और कहा— “अब और नहीं पी सकता।” उसने मेरी बात अनसुनी कर दी। उसने मेरी बात को वहीं छोड़ दिया, जहाँ छोड़ी जा सकने वाली बातें छोड़ दी जाती हैं।

पैग बन गया। हमने इधर-उधर की बातें कीं। उसने अपना नाम आलोक बताया। बोला, आमेर का रहने वाला है और जयपुर अदालत में वकील है। शब्दों में पेशे की सख़्ती थी, लेकिन आवाज़ में कुछ टूटा हुआ सा था । मैं अभी पहला पैग ही खत्म नहीं कर पाया था कि उसने पूरी बोतल खाली कर दी। मानो शराब नहीं, किसी स्मृति से पीछा छुड़ा रहा हो। जब हम उठे तो उसका शरीर उठने के ख़िलाफ़ था। वह गिर पड़ा। मैं और वेटर उसे कुर्सी तक ले आए। कुर्सी ने उसे फिर से बैठा लिया। मैंने बिल मंगवाना चाहा तो वेटर बोला, “आलोक भैया महीने की शुरुआत में ही एडवांस दे देते हैं। रोज़ यहीं आकर बैठते हैं।” रोज़ ! यह शब्द मेरे भीतर देर तक गूंजता रहा। उसकी बात सुनकर मुझे कुछ अजीब-सा लगा—जैसे यह आदमी रोज़ इसी तरह खुद को मिटाने आता हो। मैंने नींबू डालकर पानी पिलाया। कुछ देर बाद उसे थोड़ा होश आया। मैंने उसका एक हाथ अपने कंधे पर रखा और कमर से पकड़कर लिफ्ट तक ले आया। लिफ्ट में उसने काँपते हाथ से बेसमेंट का बटन दबाया। उस वक़्त मुझे लगा—कितने पढ़े-लिखे, प्रतिष्ठित लोग भी भीतर से कितने अकेले और असहाय होते हैं।

वहाँ पहुँचकर उसने गाड़ी अनलॉक की। पर उसकी हालत ऐसी नहीं थी कि गाड़ी चला सके। देह ढीली पड़ चुकी थी, आँखें बोझिल थीं। मैंने कहा, "तुम रहने दो, मैं चला लेता हूँ।" उसने बिना कुछ बोले चाबी मेरी ओर बढ़ा दी और धीमे स्वर में कहा, "शांति एन्क्लेव ले चलो।" फिर वह बगल की सीट पर बैठा और जैसे वहीं ढह गया। न उसने पूरा पता बताया था, न उसकी दशा ऐसी थी कि कुछ पूछने पर जवाब दे पाता। मैं कुछ देर तक यूँ ही सोचता रहा। रात गहरी हो चली थी और उसके हालात देख कर यह ठीक न लगा कि उसे यूँ ही इधर-उधर भटकाया जाए। फोन निकाला तो देखा कि दोस्तों ने जिस होटल की लोकेशन भेजी थी, वह ज़्यादा दूर नहीं था। मैंने गाड़ी स्टार्ट की और चल दिया। रास्ते भर वह अचेत-सा पड़ा रहा। कभी-कभी होंठ हिलते, और मुँह से बस इतना ही निकलता—"रश्मि… रश्मि…।" किस रश्मि का नाम था, या क्यों था, यह समझने का न समय था न मन। यह नाम किसी पुकार जैसा नहीं था, बल्कि किसी टूटे हुए वाक्य का आख़िरी शब्द— जिसका पहले का अर्थ खो चुका हो। होटल पहुँचकर उसे उतारना आसान नहीं था। आधा शरीर मेरे कंधे पर था, आधा जैसे ज़मीन को खींच रहा हो। किसी तरह उसे कमरे तक ले गया। उस कमरे में मेरा एक दोस्त सो रहा था। बाकी दो शायद दूसरे कमरे में थे। मैंने उसे जगाया और इशारे से दूसरे कमरे में जाने को कहा। उसने नाक सिकोड़ ली—जैसे पूछ रहा हो कि इस हाल में इस आदमी को यहाँ क्यों ले आया हूँ। मैंने भी इशारे से ही जवाब दिया—"अभी चला जा, सुबह समझाऊँगा।" वह चुपचाप चला गया। । मैंने उस आदमी को बिस्तर पर लिटाया। कुछ देर तक उसकी साँसों की आवाज़ सुनता रहा। फिर थकान मुझ पर भी हावी हो गई। कमरे में सन्नाटा था और हम दोनों सो गए।

सुबह उठे तो आलोक रात के बारे में पूछने लगा। मैंने उसे सब कुछ बता दिया और कहा की तुम रात को किसी रश्मि का नाम ले रहे थे। वह कुछ पल चुप रहा, जैसे शब्दों को समेट रहा हो। फिर उसने गहरी साँस ली और बोला—

“रश्मि सिर्फ़ एक नाम नहीं है। वही है जिसकी वजह से हर सुबह की उम्मीद और हर रात की बेचैनी साथ-साथ चलती है। पहले बातें हुई, फिर आदत बनी और कब दिल उसी के इर्द-गिर्द घूमने लगा, समझ ही नहीं आया। कभी-कभी लगता है कि प्रेम कोई संबंध नहीं होता, वह एक अवस्था है और जो आदमी एक बार उस अवस्था में चला जाए, वह लौट तो आता है, पर पूरी तरह वापस नहीं हो पाता। कभी-कभी लगता है कि आदमी सबसे ज़्यादा अकेला तब होता है जब उसके पास सब कुछ होता है सिवाय उस एक के जिसे वह सच में चाहता है। शायद कुछ अधूरी कहानियाँ इसलिए रह जाती हैं ताकि आदमी ज़िंदा रह सके , पूरी हो जातीं तो ज़िंदगी जीने का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता।” तभी उसकी आँखों से एक बूँद फिसलकर गाल पर आ गिरी।

मैंने महसूस किया कि वह मुझसे नहीं बोल रहा था बल्कि वह खुद से बोल रहा था। उसकी आँखें खाली थीं पर उस खालीपन में बहुत कुछ भरा हुआ था। मैं चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ कहने की ज़रूरत नहीं थी। उस पल आलोक को सलाह नहीं, बस किसी ऐसे इंसान की ज़रूरत थी जो बिना टोके उसकी कहानी सुन सके। मैंने उसकी ओर देखा। यह किसी प्रेमी की कहानी नहीं थी, यह उस आम आदमी की पीड़ा थी, जो समाज, हालात और अपनी ही चुप्पी के बीच पिसकर रह जाता है। उसकी आँखों में अब आँसू नहीं थे पर नमी अब भी बाकी थी। अब आलोक ने कहना

शुरू किया—

|| अंतः अस्ति प्रारंभः ||

8 अक्टूबर

यह मेरे दफ़्तर का पहला दिन था। मैं जयपुर की एक बड़ी लॉ फर्म में जॉइन करने जा रहा था। मैं सामने लगे बोर्ड को पढ़ता रहा—***मेहता एंड एसोसिएट्स*** । अंग्रेज़ी में नीचे छोटी लाइन में लिखा था—

Since 1984, मतलब यह जगह मुझसे पहले भी लोगों को बदल चुकी है और मेरे बाद भी बदलेगी। मैंने रिसेप्शन पर जाकर कहा कि मेरा नाम आलोक है और आज मेरी जॉइनिंग है। रिसेप्शन पर एक अधेड़ उम्र की महिला बैठी हुई थी। फिर उन्होंने किसी को फोन करके पूछा और बोली कि आप दस मिनट बैठिये। दफ़्तरों में दस मिनट का मतलब होता है—हम तय करेंगे कि आपको कितनी देर और छोटा महसूस कराना है। मैं बैठ गया। सामने सोफ़ा था, जो देखने में आरामदेह था, लेकिन उस पर बैठते ही एहसास हुआ कि यह सोफ़ा नहीं,एक तरह का टेस्ट है कि कितनी देर बिना कुछ किए बैठे रह सकते हो? पंद्रह मिनट बाद मैडम ने बिना मेरी तरफ़ देखे कहा—“तीसरी मंज़िल, मिस्टर मेहता ।” थैंक यू कहना बेकार था, फिर भी मैंने कहा। लिफ्ट ऊपर जा रही थी पर मैं नीचे उतर रहा था— अपने भ्रमों से, अपने छात्र जीवन से। तीसरी मंज़िल पर दरवाज़ा खुला, ठंडी हवा ने मेरा स्वागत किया। लिफ्ट में जाते हुए दिल की धड़कन तेज़ थी। तीसरी मंज़िल पर कदम रखते ही माहौल बदल गया—तेजी से टाइप करते जूनियर, फाइलों के ढेर और दीवारों पर टंगे सुप्रीम कोर्ट के फ्रेम किए गए जजमेंट्स। आख़िरी केबिन के बाहर नेमप्लेट थी—

“आर.के. मेहता | डायरेक्टर”

मैंने हल्की-सी दस्तक दी। अंदर से भारी आवाज़ आई,“यस, कम इन।” जब मैं भीतर पहुँचा तो देखा, लगभग तीस वर्ष का एक नौजवान कुर्सी पर बैठा था। चेहरे पर आत्मविश्वास था, पर आँखों में अनुभव की गहरी रेखाएँ झलक रही थीं। उसने बिना औपचारिकता के मुझे बैठने का इशारा किया। उसकी आवाज़ में न कठोरता थी, न बनावटी मधुरता—बस एक सहज गंभीरता। वह कहने लगा, “हमारी फर्म के पास प्रायः ऊँचे घरानों और बड़ी कंपनियों के मामले आते हैं और उनके साथ आते हैं उलझे हुए इंसान। ये मामले एक से नहीं होते, कुछ मामले सिविल होते हैं और कुछ क्रिमिनल। कुछ आत्मा के खिलाफ भी होते हैं। पर अंततः सब मनुष्य के डर, लालच और विवशता से जुड़े होते हैं। यहाँ कानून किताबों में नहीं, आदमी की नीयत और हालात में छिपा होता है।” फिर उसने मेरी ओर ध्यान से देखते हुए कहा, “शुरुआत में तुम्हें अंडर ट्रायल मामलों पर काम करना होगा। तुम्हारा काम यह नहीं होगा कि अपराधी को निर्दोष सिद्ध कर दो, बल्कि यह होगा कि सच के भीतर छिपे उन रास्तों को खोजो, जिनसे न्याय तक पहुँचा जा सके।”

मैं चुपचाप सुनता रहा। कमरे में पड़ी फाइलें मुझे घूरती हुई-सी लगीं, जैसे वे अपने भीतर छिपे अपराधों की गवाही देना चाहती हों। मैं चुप रहा। कमरे में चुप रहने की जगह थी। फिर उसने चपरासी को बुलाकर सहज भाव से कहा—“इन्हें बैठने की जगह दिखा दो।”

चपरासी मुझे फर्स्ट फ़्लोर पर ले आया। सीढ़ियाँ उतरते वक़्त मन में एक अजीब-सी हलचल थी, जैसे किसी अनजाने संसार में प्रवेश कर रहा हूँ। वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि एक लम्बा-सा कमरा था, जिसमें छोटे-छोटे क्यूबिकल बने हुए थे। मेरी सीट दीवार से सटी हुई थी , मानो मुझे थोड़ा अलग-थलग बैठने के लिए चुन लिया गया हो। कमरे में कोई दस-बारह लोग बैठे थे। हर मेज़ पर कंप्यूटर रखा था, पर मशीनों के बीच इंसानों की उपस्थिति ज़्यादा भारी लग रही थी। सामने की दीवार पर लोहे के रैक लगे थे, जिनमें मोटी-मोटी

किताबें करीने से सजी थीं। वह जगह दफ़्तर से ज़्यादा किसी लाइब्रेरी का आभास कराती थी। मेरी बगल की कुर्सी खाली थी, लेकिन बाकी सभी जगहों पर लोग बैठे हुए थे। वह खाली कुर्सी भी किसी की तरह मौजूद थी। न जाने क्यों, वह खाली कुर्सी मुझे बार-बार दिख रही थी। उनकी मेज़ों पर किताबें और फाइलें इस तरह फैली थीं जैसे काम ने उन्हें पूरी तरह जकड़ लिया हो। मैंने गौर से देखा तो पाया कि उन सबकी उम्र चालीस के पार होगी। चेहरों पर अनुभव की रेखाएँ थीं और आँखों में अपने काम के प्रति एक अजीब-सी तल्लीनता। कोई बोल नहीं रहा था, बस मशीनों की हल्की आवाज़ और पन्नों की सरसराहट उस कमरे की ख़ामोशी को तोड़ रही थी। वे अपने-अपने काम में इतने डूबे थे कि समय जैसे उनके लिए रुक गया हो। उस कमरे में शोर नहीं था, लेकिन ख़ामोशी भी खाली नहीं थी—वह सोच से भरी हुई थी। मैं अपनी कुर्सी पर बैठ गया। कुर्सी ने मुझे पकड़ लिया। कंप्यूटर सामने था, लोग आसपास थे, लेकिन उस पल मुझे लगा कि मैं यहाँ सब कुछ होते हुए भी थोड़ा अकेला हूँ। शायद हर नई शुरुआत कुछ देर के लिए ऐसी ही होती है। बीच-बीच में कुछ लोग आते रहे। कोई एक पल के लिए मेरी बगल की कुर्सी पर बैठता, मेरा नाम पूछता, कहाँ से आया हूँ और बस इतना ही , सवाल खत्म होते ही वे उठकर चले जाते। थोड़ी देर बाद लंच का समय हो गया। एक-दो लोग आए और बोले, “चलो, लंच करते हैं।”

मैंने कह दिया, “अभी भूख नहीं है, थोड़ी देर में कर लूँगा।” सच तो ये था कि भूख का मामला उतना नहीं था। पहला दिन था। अंजान लोगों के साथ बैठकर खाना थोड़ा अजीब लगेगा, यही सोच रहा था। । वे लोग तीन-चार के ग्रुप में चले गए। बातें करते हुए, हँसते हुए। मैं अपनी कुर्सी पर बैठा रहा। थोड़ी देर बाद मैंने अकेले लंच किया।

शाम ढल चुकी थी और मैं कमरे पर जा रहा था। आमेर से रोज़ आना-जाना संभव था, पर जाने क्यों मैंने वहीं टिके रहने का मन बना लिया था। शायद

इसलिए कि इस शहर से मेरी कुछ पुरानी यादें जुड़ी हुई थीं और इसलिए भी क्योंकि यहाँ मेरे कॉलेज का सीनियर विष्णु बिश्नोई था—जो पहले से इस दुनिया में अपनी जगह बना रहा था। वह यहीं अदालत में एक काफ़ी नामी वकील के पास प्रैक्टिस कर रहा था। अदालत की दुनिया में वह मुझसे कुछ क़दम आगे था और शायद इसी वजह से उसके साथ रहना मुझे सही लगा। हमने मिलकर एक पूरा मकान किराये पर ले रखा था। घर में कमरे थे, खिड़कियाँ थीं और दिन भर की थकान रखने की जगह थी। नया शहर, नई आदतें और कमरे में बिखरी किताबें—सब कुछ धीरे-धीरे अपनी जगह बना रहा था।

कमरे में घुसते ही तेज़ शराब की गंध नाक से टकराई। ऐसा लगा जैसे हवा भी बोझिल होकर बैठ गई हो। विष्णु कुर्सी पर आधा ढहा, आधा टिका हुआ बैठा था। मैंने कहा, “इतनी क्यों पी है आज?” उसने मेरी तरफ़ देखा, जैसे पहचानने में वक़्त लग रहा हो। फिर एक फीकी हँसी हँसा—हँसी कम, बेबसी ज़्यादा थी। यह वही हँसी थी जो लोग फेसबुक पर *‘सब ठीक है’* लिखते वक़्त लगाते हैं।

“घर वाले नहीं मान रहे,” उसने कहा, “एक ही जात के हैं, फिर भी इज़्ज़त, लोग, समाज, ये सब बीच में आ जाते हैं।” उसका सुधा नाम की किसी लड़की के साथ कुछ चल रहा था। कमरे में बोतलों की भीड़ थी, लेकिन शोर बिल्कुल नहीं। शोर तो विष्णु के भीतर था—एक ऐसा शोर, जो आदमी को बोलने नहीं देता, बस उसे भीतर ही भीतर कुरेदता रहता है। वह चुप था। मैं भी चुप था और हमारे बीच फैली उस चुप्पी में शराब की गंध से ज़्यादा तीखी गंध असहायता की थी। विष्णु की आँखें मुझ पर नहीं, कहीं और टिकी थीं—शायद किसी ऐसे भविष्य पर जो उससे पहले ही छीन लिया गया था।“अजीब बात है,” उसने बहुत धीरे से कहा,“प्यार में सबसे आसान काम होता है साथ होना और सबसे मुश्किल साथ रहने की इजाज़त पाना।”

मैंने पहली बार महसूस किया कि शराब नशा नहीं होती—वह तो बस एक बहाना है। असली नशा समाज का होता है जो आदमी को यह यक़ीन दिला देता है कि उसका सुख एक अपराध है। विष्णु बोला, "तूने कभी पी नहीं, अच्छा किया।" मैंने कभी नहीं पी थी। शायद इसलिए नहीं कि मैं बेहतर था, बल्कि इसलिए कि मेरे भीतर अभी तक कुछ टूटा नहीं था। विष्णु के भीतर बहुत कुछ टूट चुका था ,इतना कि उसे जोड़ने के लिए अब बोतलें कम पड़ रही थीं। टेबल पर पड़ी हर खाली बोतल किसी अधूरे वाक्य की तरह थी—कहना बहुत कुछ चाहती थी, पर कह नहीं पा रही थी।

मैंने पूछा कि जब एक ही बिरादरी से है तो दिक्कत कहाँ है? वो बोला हमारी दादी की ओर का गोत्र एक ही है। एक पल को ठिठककर मैंने माथे पर हाथ रखा और विचारों में डूब गया। गोत्र का नियम आया कहाँ से? पुराने समय में लोग एक-दो गाँव के दायरे में ही रहते थे। आबादी कम थी, रिश्तेदारी बहुत पास-पास होती थी। तब अपना गोत्र, माँ का गोत्र और दादी का गोत्र-इनमें शादी से बचने का नियम बनाया गया ताकि करीबी रिश्तों में विवाह न हो और बच्चों में बीमारियों का जोखिम न बढ़े। जीव-विज्ञान की भाषा में इसे **Inbreeding depression** कहा जाता है। ये नियम तब बने थे, जब आदमी की दुनिया चार कोस की होती थी, लोग पास-पास रहते थे, रिश्ते आपस में गुँथे रहते थे, दुनिया छोटी थी—चार दिशाएँ, वही खेत, वही लोग, वही रक्त। आज आदमी शहर-शहर, देश-देश भटक रहा है। एक ही गोत्र के दो लोग मिलें भी तो उनके खून में कोई नज़दीकी नहीं होती। गोत्र अब परंपरा है, भय नहीं। पर समाज की आदतें देर से बदलती हैं। जो नियम कभी रक्षा के लिए बने थे, वही आज बंधन बन गए हैं। आदमी डरता है बीमारी से नहीं, लोगों की बातों से। और यही डर सबसे बड़ी बीमारी है। तब सावधानी थी, विवेक था। लेकिन समय बीत गया, नियम रह गया— एक सूखी हुई शाखा की तरह, जो अब भी छाया देने का दावा करती है। तब समझदारों ने सोचा था —करीबी खून में

ब्याह होगा तो संतानों पर उसका बोझ पड़ेगा। इसलिए तीन गोत्रों की दीवार खड़ी कर दी गई। आज के समय में स्थिति अलग है ,एक ही गोत्र के लोग आनुवंशिक रूप से अक्सर बिल्कुल अलग होते हैं। **Inbreeding depression** असल में कब होता है? विज्ञान के हिसाब से खतरा तब होता है जब शादी - सगे भाई-बहन ,मामे-चाचा की संतान या लगातार कई पीढ़ियों तक बहुत करीबी रिश्तों में हो। असल बात ये है कि समस्या खून की है ही नहीं बल्कि हिम्मत की है और हिम्मत का गोत्र अक्सर हर किसी के पास नहीं होता।

हम चुप रहे। चुप्पी ने कोई गोत्र नहीं पूछा। टेलीविज़न पर गाना चल रहा था- **तुम तसल्ली न दो सिर्फ़ बैठे रहो वक़्त कुछ मेरे मरने का टल जाएगा।** गाना चलता रहा साँसों की तरह और फिर गाना सुनते-सुनते हम दोनों सो गए।

अगले दिन मैं फिर दफ़्तर गया और अपनी सीट पर बैठ गया। दिमाग़ अभी भी आधा कल में अटका हुआ था। कुछ देर बाद सामने से एक लड़की आई और मेरी बगल वाली सीट पर बैठ गई। मुझे लगा, शायद यही उसकी जगह है और कल वह छुट्टी पर रही होगी। उसने मेरी तरफ़ देखा और सिर हिला दिया। मैंने भी वैसा ही कर दिया—बस उतना ही, जितना किसी के जवाब में ज़रूरी होता है। उसने पीले रंग का कुर्ता और सफ़ेद सलवार पहन रखी थी। पैरों में पंजाबी जूती थी, कानों में चाँदी के झुमके। आँखों में काजल था—पर वह काजल ज़्यादा दिखाई नहीं देता था, बस महसूस होता था, जैसे किसी अनकहे भाव की हल्की रेखा। काजल उसके चेहरे पर एक अजीब-सी सादगी और ठहराव ले आता था जो किसी बनावटीपन से ज़्यादा उसकी आदत का हिस्सा लगता था। दफ़्तर की उस साधारण-सी सुबह में कुछ अलग घटा था, ऐसा मुझे बाद में समझ आया। दफ़्तर उसी तरह चल रहा था, लेकिन मुझे लगा उस लड़की ने जैसे मन की सारी थकान पर शीतलता का एक परदा डाल दिया हो और भीतर कहीं कुछ चुपचाप शांत सा हो गया हो।

लंच का समय हुआ तो दफ़्तर एकदम से खाली होने लगा। कुर्सियों की आवाज़ें आईं, लोग उठे और छोटे-छोटे समूहों में बाहर की ओर बढ़ गए। किसी ने मुझे भी आवाज़ दी , लेकिन मैंने वही पुराना वाक्य दोहरा दिया—अभी भूख नहीं है। रश्मि अपनी जगह बैठी रही। किसी ने उसकी ओर देखा तक नहीं, जैसे यह पहले से तय हो कि वह नहीं जाएगी। सब लोग उस कॉमन रूम की तरफ़ चले गए जहाँ एक लंबी मेज़ थी, कुर्सियाँ थीं, और शोर था—बहुत ज़्यादा शोर। मैंने उससे पूछा, “तुम वहाँ नहीं जातीं?” उसने बिना मेरी ओर देखे कहा, “मुझे शांति से खाना अच्छा लगता है। वहाँ बहुत शोर रहता है। एक दिन गई थी, पर मन नहीं लगा। फिर यहीं बैठकर खाने लगी। पहले एक-दो बार लोगों ने बुलाया, पर मैं नहीं गई। बाद में उन्होंने कहना ही छोड़ दिया।” फिर उसने मेरी ओर देखा और पूछा, “तुम क्यों नहीं गए?” मैंने कहा, “अंजान लोगों के साथ खाना अच्छा नहीं लगता और भीड़ में तो बिल्कुल नहीं।” फिर बहुत हल्की-सी मुस्कान उसके चेहरे पर उभरी—इतनी हल्की कि अगर उस पल मैं उसकी ओर न देख रहा होता, तो शायद वह मुस्कान मेरे हिस्से आती ही नहीं। उसने कहा, “अब तो भूख लग ही गई होगी, चलो लंच कर लेते हैं।”

फिर हम लंच करने बैठ गए। उसने सब्ज़ी का टिफ़िन मेरी तरफ़ बढ़ा दिया। उसमें आलू-गोभी थी—घर की बनी, साधारण-सी। मैंने थोड़ी-सी सब्ज़ी ली और अपनी भिंडी की सब्ज़ी उसके टिफ़िन में रखकर वापस कर दी। खाना खाते हुए बातें अपने-आप निकलती रहीं—कहाँ से हो, पढ़ाई कहाँ की। उसने सहज-सा बताया कि उसकी राजस्थान ज्यूडिशियल सर्विसेज़ की परीक्षा पास हो चुकी है और दो-तीन महीने में जॉइनिंग आ जाएगी। उसके स्वर में न उत्साह था, न दिखावा। मैंने बधाई दी, उसने हल्की-सी मुस्कान के साथ सिर हिला दिया, जैसे ये सब कोई बहुत बड़ी बात ही न हो। बस, फिर क्या—लंच और बातचीत का वह सिलसिला यूँ ही चलता रहा। पता नहीं क्यों, उसके साथ बात

करना अच्छा लगता था। मन में एक अजीब-सा सुकून उतर आता था, जैसे शोर के बीच कहीं कोई शांत जगह मिल गई हो।

एक दिन वह चुपचाप बैठी कुछ सोच रही थी। चेहरे पर ऐसी उदासी थी, जो बिना कहे ही बहुत कुछ कह जाती है। मैंने पूछ लिया, "क्या बात है?" उसने कहा, "बस कुछ नहीं, घरवाले मेरे लिए रिश्ता देख रहे हैं।" फिर धीमे स्वर में बोली, "जिस आदमी को ठीक से जाना ही नहीं, उसके साथ सारी ज़िंदगी कैसे बीतेगी—यही सोच रही हूँ।" थोड़ी देर बाद उसने मुझे खड़े होने को कहा। मैं खड़ा हुआ तो वह भी बिना किसी भूमिका के मेरे बिल्कुल पास आकर खड़ी हो गई। हमारे कंधे आपस में छू गए। कंधों को शायद इसकी उम्मीद नहीं थी। वह स्पर्श बहुत हल्का था। शरीर में एक अजीब-सी कंपन दौड़ गई। उसने अपना हाथ अपने सिर के ऊपर रखा, घुमाकर मेरी तरफ़ किया और उसकी उँगली मेरे कान के निचले हिस्से को छूने लगी। वह बोली, "बताओ, मेरी उँगली कहाँ छू रही है?" मैंने कहा, "कान के निचले हिस्से को।" फिर वह बिल्कुल मेरे सामने आकर खड़ी हो गई और एक क्षण मुझे देखती रही, जैसे किसी नतीजे पर पहुँचना चाहती हो। एक पल बाद बोली, "ठीक है, बैठ जाओ।" हम दोनों फिर से अपनी-अपनी जगह बैठ गए। मैंने पूछा, "ये क्या था?" वो बोली कि तुम्हारी कितनी हाईट है। मैंने कहा 172 सेंटीमीटर। वह बोलीं— "महाशय, मैं आपको फौज में भर्ती नहीं कर रही हूँ, कृपया फीट में बता दीजिए।" मैंने हँसकर कहा 5 फीट 8 इंच है। वो बोली मेरे वास्ते जिस लड़के का रिश्ता देख रहे है, उसकी भी इतनी ही हाईट है, तो देख रही थी कि कैसा लगेगा मेरे साथ खड़ा हुआ। तुम्हें क्या लगा ? मैंने कहा कि कुछ नहीं लगा, तभी तो पूछा। उसने सिर हिलाया। शायद उसे लगा होगा कि कुछ न लगना भी एक तरह का लगना होता है।

फिर हम काम के बीच-बीच में भी बातें करने लगे। कभी वह मुझसे पूछती कि घर में कौन-कौन है, कभी यह कि ज़िंदगी में आगे क्या प्लान है। इसी तरह मुझे

उसकी आदत-सी पड़ गई थी। जिस दिन वह दफ़्तर नहीं आती, सब कुछ ज़्यादा ही सूना-सूना सा लगता। एक दिन वह नहीं आई। अगले दिन मिठाई का डिब्बा लेकर आई। मुझे लगा कि शायद उसकी शादी तय हो गई है। मैंने उसके हाथों की ओर देखा—वहाँ कोई नई अंगूठी नहीं थी, बस वही पुराना छल्ला था, जो वह रोज़ पहने रहती थी। । तब समझ में आया कि बात कुछ और है। उसने बताया कि 24 अप्रैल से उसे अजमेर अदालत में सेशन जज की नियुक्ति मिली है। यानी अगले हफ्ते वह चली जाएगी। यह वाक्य उसने नहीं कहा, पर मुझे साफ़-साफ़ सुनाई दे गया। यह सोचकर मन अपने आप उदास हो गया। मुझे समझ आया कि कुछ लोग आते हैं, अपनी जगह बना लेते हैं और फिर चले जाते हैं , पीछे बस थोड़ी-सी ख़ामोशी छोड़ जाते हैं। मुझे ऐसा लगा कि जैसे रोज़ की एक आदत अचानक छूटने वाली है। मैंने उसे बधाई दी। वह मुस्कुरा दी। मगर उसके जाने की बात सुनकर मन में जैसे कोई खाली जगह बन गई। मैं उस दिन काम तो करता रहा, पर बार-बार ध्यान उसी ओर चला जाता था। शाम को दफ़्तर से लौटते वक्त रास्ता कुछ ज़्यादा ही लंबा लग रहा था।

फिर जैसे-तैसे उस हफ़्ते का आख़िरी दिन, शनिवार आ गया। शाम को उसकी रिलीविंग थी। दिन भर हम सामने बैठे रहे पर बातों के बीच एक अजीब-सा सन्नाटा पसरा रहा। जाते वक़्त बस इतना हुआ कि हमने अपने नंबर एक-दूसरे को थमा दिए— जैसे कोई अनकही संभावना हाथ बदल रही हो और भविष्य के लिए कोई छोटा-सा बहाना रख लिया हो। जाते समय उसने संक्षेप में कहा— “अच्छा, चलती हूँ।” मुड़कर “बाय” कहा और बस, वही “बाय” जैसे मेरे ज़ेहन में बैठ गया।

फिर ज़िंदगी पहले की तरह चलने लगी। कमरे पर जाकर विष्णु से बातें होतीं— कभी वह शराब पी रहा होता, कभी सुधा से बात करके रो पड़ता और कभी मुझसे कहता कि अब वह कभी शादी नहीं करेगा। मैं उसे समझाता कि कुछ दिनों में वह सब भूल जाएगा, शादी कर लेगा और अपनी ही दुनिया में व्यस्त

हो जाएगा—इतना कि उसे उसकी याद भी नहीं आएगी। लेकिन जो बातें दूसरों को समझाते हैं, वही बातें अपने लिए सबसे कठिन हो जाती हैं। मुझे रश्मि की अनुपस्थिति खलने लगी थी। यह आकर्षण था या उससे आगे कोई अनकहा भाव—मैं तय नहीं कर पा रहा था। मोबाइल में उसका नंबर था, बिल्कुल पास, फिर भी अनछुआ। जैसे उसे डायल करना किसी सीमा को लाँघना हो। इसी असमंजस, इसी अधूरेपन में दिन चुपचाप सरकते चले गए।

फिर एक दिन दफ़्तर के कंप्यूटरों में कुछ अपडेट हो रहे थे। उसी सिलसिले में एक टेक्नीशियन आया हुआ था। जिस कंप्यूटर पर रश्मि बैठती थी, उसमें माउस नहीं लगा था, इसलिए उसने उसी टेबल की दराज़ खोलनी शुरू कर दी। दराज़ में रखी सारी चीज़ें निकालकर उसने टेबल पर फैला दीं, लेकिन माउस फिर भी नहीं मिला। उन चीज़ों के बीच मुझे गुलाबी रंग के कवर में रखे इयरबड्स दिखाई दिए। मुझे लगा, ये रश्मि के ही होंगे। मैंने उनकी एक फोटो खींची और उसे भेज दी। इसके बाद मैं कमरे पर लौट आया और नहाने चला गया। जब वापस आया तो विष्णु मुझे कुछ अजीब-सी नज़रों से देख रहा था। उसने कहा, “अभी किसी रश्मि मैडम का फोन आया था।” उसकी नज़रें जैसे मुझसे यह पूछ रही हों कि मैंने उसे इसके बारे में कभी बताया क्यों नहीं। मैंने बिना कुछ कहे फोन उठाया और अपने कमरे में चला गया। फोन मिलाया तो उधर से आवाज़ किसी लड़की की थी, लेकिन रश्मि की नहीं लग रही थी। शायद ऐसा ही होता है—सामने होने पर आवाज़ कुछ और लगती है और फोन पर कुछ और। उसने पूछा, “ये इयरबड्स कहाँ से मिले?” मैंने कहा, “आपकी दराज़ में रखे थे।” वो बोली, “ठीक है, मैं एड्रेस भेज देती हूँ, वहाँ कूरियर करवा देना।” उसने अजमेर का पता भेज दिया और अगले दिन मैंने वो इयरबड्स कूरियर कर दिए।

फ़िर तीन–चार दिन बाद शाम को उसका मैसेज आया— “आलोक जी, बहुत-बहुत शुक्रिया आपका। मैंने तो सोचा था कहीं मुझसे गिर गए होंगे। मैं बता नहीं

सकती कि मैं कितनी खुश हूँ।” मैंने जैसे ही वह मैसेज पढ़ा, उसी पल उसका कॉल आ गया। फोन उठाते ही उसने वही बात फिर से दोहरा दी—मैसेज वाली। उसकी आवाज़ में अजीब-सी उत्सुकता और भावुकता घुली हुई थी। मैंने पूछ ही लिया, “ऐसा क्या ख़ास था इन ईयरबड्स में?” फिर उसने बताना शुरू किया। बाद में मुझे एहसास हुआ कि उसने कॉल असल में बताने के लिए ही किया था—मैं पूछता या न पूछता। वह बोली कि ये कॉलेज के दिनों की चीज़ है। एक बॉयफ्रेंड था। उसी ने दिए थे। आज उसकी शादी है। मैं इन्हें उसकी आख़िरी निशानी की तरह रखना चाहती हूँ। ‘आख़िरी निशानी’—यह शब्द मेरे भीतर देर तक अटका रहा। मैंने पूछा—जब बॉयफ्रेंड था, तो शादी क्यों नहीं हुई? उसने कहा—बात शादी तक पहुँची ही नहीं। कॉलेज के बाद दूरी बढ़ती चली गई। पहले शहर बदले, फिर आवाज़ें। फिर एक दिन सब बंद हो गया। वही लॉन्ग-डिस्टेंस रिलेशनशिप—जिसमें लोग नहीं, सिर्फ़ यादें चलती रहती हैं। फिर थोड़ा रुककर बोली— “पिछले हफ्ते ही उसका फोन आया था—शादी का। मैं गई नहीं और ये भी नहीं बताया कि मैं अब अजमेर में हूँ। जबकि वो भी अजमेर का ही है और शादी भी यहीं है।” मैं थोड़ी देर तक सोचता रहा कि कुछ लोग हमारी ज़िंदगी से चले जाते हैं, लेकिन उनकी दी हुई छोटी-छोटी चीज़ें अचानक बहुत बड़ी हो जाती हैं।

फिर वो कहने लगी कि अच्छा मैंने तो बता दिया अपने बारे में तुम बताओ तुम्हारी भी तो रही होगी कोई गर्लफ्रेंड। फिर मैं बोला कि सच कहूँ तो वो मेरी गर्लफ्रेंड नहीं थी। वो भी आमेर से ही थी और हम दोनों आमेर के ही महाराणा प्रताप स्कूल में साथ पढ़ते थे, एक ही क्लास, एक ही सेक्शन। इतनी नज़दीकी कि बात हो सकती थी और इतनी दूरी कि बात कभी ठीक से हुई ही नहीं। उस उम्र में हम लोग प्रेम को नाम देने से ज़्यादा उसे बचाने में लगे रहते हैं। दसवीं तक रोज़ आमने-सामने बैठते रहे, पर बात उतनी ही हुई जितनी ज़रूरी होती है। न मैंने कभी कुछ कहा, न उसने कुछ पूछा। उस उम्र में प्रेम शब्दों से नहीं,

निगाहों से पनपता है। दसवीं के बाद सब कुछ बदल गया। स्कूल, विषय, रास्ते—पर मन वहीं अटका रह गया। दोनों ने जयपुर के अलग अलग स्कूल में एडमिशन ले लिया। मैंने आर्ट्स ले ली और उसने कॉमर्स। मेरा पहले ही क्लीयर था की कानून की पढ़ाई करनी है या यूपीएससी करनी है। स्कूल अलग-अलग थे, पर दूरी इतनी भी नहीं थी कि मन मान जाए। मेरी छुट्टी पहले हो जाती थी। मैं बस अड्डे के पास एक ऐसी गली में खड़ा हो जाता, जहाँ से वह दिख जाए पर वह मुझे न देख सके। मुझे उसे देख लेने भर से तसल्ली मिल जाती थी। अजीब बात है, उस वक्त मुझे ये सब रोमांटिक लगता था, आज लगता है—थोड़ा डरपोक था मैं। मेरे पास सरकारी बस का पास था। वह निजी बस से जाती थी। कभी-कभी मैं उसी बस में चढ़ जाता और सबसे पीछे बैठ जाता। इस सावधानी के साथ कि उसकी नज़र मुझ पर न पड़े। वह मुझसे एक स्टॉप पहले उतर जाती। बस आगे बढ़ जाती और मैं मुड़कर तब तक देखता रहता, जब तक वह भीड़ में गुम न हो जाए। एक दिन तो मेरा एक क्लासमैट मेरी तरफ़ से उसको प्रोपोज करने जा रहा था। वह कहता कि पंडित जी, मुझे नहीं लगता कि इस जन्म में तुम इस लड़की से अपने प्यार का इज़हार कर पाओगे। चलो, हम ही एक दोस्त होने का फ़र्ज़ निभा देते हैं। मैंने बहुत मुश्किल से उसे रोका, क्योंकि अगर उसने मना कर दिया होता, तो पाँच साल का ये सारा ख़ामोश, एकतरफ़ा, सुरक्षित प्रेम एक झटके में खत्म हो जाता। अब समझ आता है—मैं उसे पाना नहीं चाहता था, बस मैं उसे खोना नहीं चाहता था। कुछ लोग रिश्ते नहीं होते, वो बस हमारी ज़िंदगी के ऐसे हिस्से होते हैं जिन्हें हम कभी छूते नहीं ताकि वो टूट न जाएँ। मुझे आज भी ठीक-ठीक समझ नहीं आता कि वो क्या था। प्यार कहना बड़ा शब्द है, क्रश कहूँ तो छोटा पड़ जाता है और आकर्षण कहूँ तो मन नहीं मानता।

वह मेरी नहीं थी और शायद इसी कारण वह इतनी मेरी थी। इसी वजह से वो मेरी कल्पनाओं में बिल्कुल सुरक्षित थी। कोई झगड़ा नहीं, कोई उम्मीद नहीं।

उसे तो आज तक भी नहीं पता कि किसी आलोक नाम के लड़के ने उसे यूँ चाहा कि चाहने का हक़ भी नहीं माँगा। मनुष्य अक्सर उन्हीं दुखों को सबसे ज़्यादा ढोता है, जिनका कोई नाम नहीं होता।

कॉलेज में दाख़िला हो गया, दिनचर्या ने रफ्तार पकड़ ली, पर मन वहीं ठहरा रहा—उस लड़की के खयाल में, जो कभी जीवन में आई ही नहीं थी। वह प्रेम था, पर अधिकार के बिना; पीड़ा थी, पर शिकायत के बिना। उसी के चक्कर में किसी भी लड़की से ढंग से बात नहीं की, बस काम से काम रखा। किसी और लड़की से ठीक से बात न कर पाना, बस औपचारिक रहना—ये बेरुख़ी नहीं थी, ये वफ़ादारी थी, भले ही वो एकतरफ़ा ही क्यों न रही हो। आसपास लोग थे, हँसी थी, प्रेम के छोटे-छोटे तमाशे थे—किसी की गर्लफ्रेंड, किसी का ब्रेकअप, किसी की शराब में डूबी हुई रातें। वे रोते थे, गिरते थे, फिर अगली सुबह किसी और सहारे पर खड़े हो जाते थे। मैं उन्हें देखता था और समझ नहीं पाता था—शराब से क्या मिलता है? शायद थोड़ी देर की नींद। शायद अपने ही भीतर से मुँह मोड़ लेने का साहस। मेरा दुख उनसे अलग था। न कोई आया था, न कोई गया था। जिसे खोया जा सके, वह मैंने कभी पाया ही नहीं था। यह पीड़ा थी—पर किसी भी हंगामे से इनकार करती हुई। मैं यह न कह सका कि वह मेरी ज़िंदगी में आई, न यह कह सका कि वह मुझे छोड़ गई। बस इतना जानता था कि कुछ था, जो न कहा जा सका और वही उम्र भर मेरे साथ रहा। इकतरफ़ा प्रेम का यही सत्य है—न आने की खुशी, न जाने का शोक; बस एक लम्बी, मौन प्रतीक्षा। इकतरफ़ा प्यार बड़ी अजीब चीज़ है। इसमें न ब्रेकअप होता है, न पैचअप। बस प्यार वहीं किसी पुराने नोट्स की तरह बैग में दबा रह जाता है— फेंक भी नहीं पाते, और दोबारा काम का भी नहीं रहता। मैं सोचने लगा कि उस पल कुछ बदला नहीं था, फिर भी सब कुछ थोड़ा आसान हो गया था। जैसे बातचीत अब औपचारिक नहीं रही—बस दो लोग थे, अपनी-अपनी कहानियों के साथ, आमने-सामने बैठे हुए।

रश्मि हँसते हुए बोली— “यार, तुम तो बहुत फिल्मी हो। जिस लड़की से कभी ढंग से बात भी नहीं की, उसे दिल में बसा कर बैठे हो। उसे तो शायद पता भी नहीं होगा कि कोई उसके बारे में ऐसा सोचता है।” फिर उसने हल्के से टोका— “और हाँ, ये ‘मैडम जी’, ‘रश्मि जी’ कहना बंद करो। ऐसा लगता है जैसे मैं तुमसे दस साल बड़ी हूँ।” मैंने मुस्कराकर पूछा— “तो फिर किस नाम से बुलाऊँ?” वो बोली— “बस रश्मि, सीधा-सादा।”

फिर अचानक उसने पूछ लिया— “वैसे तुम्हारा जन्म किस साल का है?” मैंने कहा—“1995” । वो पल भर रुकी, फिर बोली— “अच्छा! फिर तो मैं तुमसे सिर्फ दो साल ही बड़ी हूँ।” उसके इस वाक्य में कोई खास बात नहीं थी, लेकिन न जाने क्यों मुझे लगा जैसे उम्र का ये फासला भी अचानक बहुत अपना-सा हो गया हो। उस एक वाक्य ने जैसे हमारे बीच की दूरी को थोड़ा-सा कम कर दिया। उस क्षण मुझे लगा कि उम्र का यह अंतर कोई बोझ नहीं, बल्कि बातचीत को और सहज बना देने वाली एक छोटी-सी दूरी है जो अनजाने ही हमारे बीच की झिझक को कम कर रही थी।

उसने अचानक बिना किसी भूमिका के पूछ लिया— “एक बात बताना , सच्ची-सच्ची। क्या तुम मुझे दफ़्तर में घूरते थे? मुझे लगा, तो पूछ लिया।” मैं हँस दिया। हँसी के पीछे बचाव था। उसका सवाल — “**क्या तुम मुझे घूरते थे**?” — मासूम नहीं था। मैं बोला— “मेरी आँखें ही ऐसी हैं। दोस्त भी कहते हैं—तुम देखो तो लगता है कि घूर रहे हो और आँखें भी तुम्हारी जल्दी लाल हो जाती हैं जैसे कोई सूखा नशा करके बैठे हो।” वह हल्के से मुस्कराई और बोली— “ये तो मैंने भी नोटिस किया था। लगता था रात को ड्रिंक की होगी और इसी वजह से आँखें अभी तक लाल हैं। पर तुम तो पूरे वैष्णव हो, पंडित जी।”

फिर थोड़ी-सी हिम्मत करके रश्मि को कहा, "तुमसे बात करना अच्छा लगता था दफ़्तर में। अब सब कुछ खाली-खाली सा लगता है। खाने का भी मन नहीं करता।" फोन के उस पार थोड़ी देर चुप्पी रही। फिर उसकी आवाज़ आई— "कितना अच्छा होता अगर ये बातें उस समय होतीं। तुम मुझे अपनी बीती बातें बताते, मैं तुम्हें अपनी। खैर, छोड़ो। बहुत देर हो चुकी है। अब सोते हैं।" और उसने फोन काट दिया। घड़ी देखी—रात के एक बज चुके थे। चार घंटे बीत गए थे, जैसे कोई लंबी यात्रा बिना किसी गंतव्य के पूरी हो गई हो। उस रात पहली बार समझ में आया—कुछ संवाद इसलिए अधूरे रह जाते हैं क्योंकि वे सही समय पर नहीं होते और तब वे प्रेम नहीं बनते, सिर्फ़ एक गहरी स्मृति बनकर रह जाते हैं जिसे भुलाया नहीं जा सकता। फिर तकिए पर लेटे-लेटे वही एक लाइन घूमती रही, "कितना अच्छा होता कि ये बातें उस समय होती" — ये वाक्य बहुत भारी होता है। इसमें अफ़सोस भी है, चाहत भी और एक साफ़ लकीर भी कि वो तुम्हारे क़रीब आकर खुद ही एक कदम पीछे हट गई हो। चार घंटे की बात, रात एक बजे तक, ऐसी बातें टाइम पास नहीं होतीं। ये वो बातचीत होती है जो लोग तब करते हैं जब दिल जाग रहा हो और दिमाग़ सो चुका हो। और एहसास — दफ़्तर सूना लगना, खाने का मन न होना — ये सब बताता है कि ये सिर्फ़ याद नहीं थी, लगाव था। शायद प्यार नहीं, शायद क्रश नहीं, पर उससे कम भी नहीं।

आज हमारी इतनी देर बात होने के दो कारण थे। एक तो आज रश्मि के बॉयफ्रेंड की शादी थी और वो उदास थी , उसको दिल की बात करने के लिए कोई चाहिए था क्युंकि पुरानी बातों को चाहे कितना भी टाइम हो जाए वो भूली नहीं जा सकती बल्कि उनको भुलाने के लिए नई बातों की जरूरत होती है। रश्मि को शायद उसके बॉयफ्रेंड के जाने के बाद वो बात कभी मिली ही नहीं। कुछ घाव ऐसे होते हैं जो समय के साथ भरते नहीं, बस आदत में बदल जाते हैं। उन्हें भूलने के लिए केवल बहुत दिन नहीं, नई बातें चाहिए होती हैं, नए

सहारे चाहिए होते हैं। वह उदास थी। उदासी इसलिए नहीं थी कि वह लड़का किसी और का हो गया था, बल्कि इसलिए थी कि उसके जाने के बाद उसके जीवन में वैसी कोई आवाज़ नहीं आई जो मन के ख़ालीपन को भर सके। पुरानी बातें भूलने के लिए समय काफ़ी नहीं होता, नई बातें चाहिए होती हैं—ऐसी बातें, जिनमें मन थोड़ी देर टिक सके। उसी टिकाव की तलाश में उसने फोन किया था। उसे बस कोई चाहिए था जो चुपचाप सुन सके। दूसरा कारण विष्णु का कमरे पर न होना था। वह घर गया हुआ था। अगर वह होता, तो शायद यह बातचीत इतनी लंबी न खिंचती। कई बार ज़िंदगी हमें अवसर चुपचाप देती है—बिना शोर किए, बिना सूचना दिए। मुझे रश्मि से बात करके अच्छा लगा था। पर ये अच्छा लगना किस तरह का था, ये मैं तय नहीं कर पाया। शायद इसलिए कि हर एहसास को नाम देने की जल्दी ठीक नहीं होती। कुछ फीलिंग्स बस महसूस की जाती हैं, समझी नहीं जातीं। यह अच्छा लगना किसी स्पष्ट भावना का नाम नहीं था। न प्रेम, न मित्रता—बस एक ऐसा स्पर्श, जो दिखाई नहीं देता, पर देर तक भीतर बना रहता है। मैं यह तय नहीं कर पाया कि यह कैसा एहसास था। यही सब सोचते-सोचते मैं सो गया और नींद आने से पहले भी मन कहीं उसी बातचीत में अटका रहा।

अगली सुबह आँख काफी देर से खुली। घबराकर जल्दी-जल्दी तैयार हुआ और दफ़्तर भागा। हैरानी की बात ये थी कि आज दफ़्तर में मन लग रहा था। बार-बार ऐसा महसूस हो रहा था जैसे रश्मि पास ही बैठी हो— न दिखती हुई, पर पूरी तरह उपस्थित। रात को उससे जो बातें हुई थीं, मैं दिन भर उन्हीं बातों से जैसे खुद ही बात करता रहा। लंच के समय भी यही अहसास बना रहा—मानो रश्मि सामने बैठी हो, चुपचाप, वही परिचित-सी मुस्कान लिए। शाम को दफ्तर से लौटकर जब कमरे में पहुँचा, तो सन्नाटा था। पर मन में जो हलचल थी, उसने उस सन्नाटे को भर रखा था। रश्मि वहाँ नहीं थी और फिर भी थी। अब अकेलापन वैसा नहीं रहा था, उसमें किसी की याद शामिल हो गई थी।

शाम को मैं अपने कमरे पर लौटा तो दिन भर की थकान शरीर से अधिक मन में थी। आठ बजे रश्मि का मैसेज आया—"फ्री होकर कॉल कर लेना।" शब्द साधारण थे, पर उनमें अपनापन झलक रहा था। रात का भोजन करके मैंने उसे फोन किया। धीरे-धीरे बातचीत आगे बढ़ी। हम धीरे-धीरे बात करते रहे, जैसे शब्दों के बीच कोई अदृश्य नदी बह रही हो। उसने पूछा—"आगे क्या सोच रखा है?" मैंने कुछ संकोच से कहा—"या तो जुडिशियल सर्विसेस की तैयारी करूँगा, या फिर यूपीएससी की। कॉलेज के दिनों में भी यूपीएससी की तैयारी की थी, पर नौकरी के फेर में सब छूट गया।" रश्मि ने गंभीर स्वर में कहा—"जज की नौकरी उतनी सरल नहीं है जितनी बाहर से दिखती है। सैकड़ों केस लंबित रहते हैं। समय कम, दबाव ज़्यादा। ऊपर से तरह-तरह के प्रभाव और प्रलोभन। दोष आखिर जज पर ही आता है। तुममें क्षमता है, यूपीएससी बेहतर विकल्प हो सकता है।" उसकी बातों में अनुभव था और कहीं न कहीं मेरे लिए चिंता भी। उसकी आवाज़ में थकान थी, पर साथ ही एक विश्वास भी—"तुम्हें बड़ा सोचना चाहिए। शायद यूपीएससी तुम्हें वही दे सके जो तुम भीतर से चाहते हो।" उस रात मुझे लगा, वह सिर्फ़ मेरे साथ बात नहीं कर रही थी—वह मेरे अधूरे स्वप्नों को फिर से जगा रही थी।

फिर मैंने सहज ही पूछा—"दफ़्तर के बाद क्या करती हो?" पर उसके उत्तर में जैसे किसी शांत झील की गहराई थी। वह हल्की-सी हँसी के साथ बोली, "कुछ खास नहीं बस एक गर्ल पीजी में रहती हूँ। मेरे साथ एक और लड़की है, सरकारी अस्पताल में डॉक्टर। शाम को लौटकर थोड़ी बातें हो जाती हैं, फिर मैं हेडफ़ोन लगाकर लैपटॉप खोल लेती हूँ, कोई फ़िल्म या वेबसीरीज़ देख लेती हूँ।" उसकी आवाज़ में एक अजीब-सी थकान थी—वैसी थकान जो शरीर से ज़्यादा मन पर उतरती है। मुझे लगा, जैसे वह अपने दिन का हिसाब नहीं दे रही थी बल्कि अपने अकेलेपन का एक शांत-सा परिचय करा रही थी। शहर की शामें कितनी विचित्र होती हैं। बाहर सड़कें रोशनी से भर जाती हैं,

लोग हँसते-बोलते दौड़ते रहते हैं और भीतर कमरों में लौटकर हर आदमी अपने-अपने सन्नाटे से बात करता है। मुझे लगा, वही सन्नाटा शायद उसके कमरे में भी उतर आता होगा, वह फ़िल्में नहीं देखती होगी ,शायद खुद से बचने की कोई कोशिश करती होगी। जैसे हर दृश्य के साथ अपनी ही किसी याद को ढँक देना चाहती हो। मैं उसकी बात सुनते हुए सोच रहा था कि इंसान के जीवन में कुछ खाली जगहें ऐसी होती हैं, जिन्हें कोई आवाज़ नहीं भरती, सिर्फ समय ढँक देता है। वह डॉक्टर लड़की दिन भर बीमारों के बीच रहती होगी और यह लड़की दफ्तर की थकान लिए कमरे में लौटती होगी। दो लड़कियाँ, दो थकानें, दो ज़िंदगियाँ ,थोड़ी देर साथ, फिर हेडफ़ोन के पीछे छिपी हुई अपनी-अपनी दुनिया। मुझे उसके शब्दों में कोई शिकायत नहीं लगी, बस एक सीधी-सादी स्वीकृति थी—जैसे जीवन को जैसा मिला, वैसा ही अपनाकर जी रही हो। शहर की यही तो रीति है, यहाँ आदमी भीड़ में रहकर भी अपने लिए एक छोटा-सा अकेलापन बचाकर रखता है। मैं उसकी बातें सुनता रहा और सोचता रहा—इंसान कितना कुछ कहे बिना भी कह जाता है। उसके साधारण से वाक्य में भी मुझे एक ऐसी दुनिया दिखाई दे रही थी, जहाँ दिन भर की भागदौड़ के बाद शामें सिर्फ समय काटने नहीं, खुद को समझाने में गुजरती हैं।

फिर उसने कहा, “तुम बताओ।” मैंने कहा — “ मेरे साथ एक रूममेट है, कॉलेज का सीनियर। आजकल वह घर गया हुआ है, उसके परिवार में विवाह का उत्सव है। पर सच कहूँ तो उसके भीतर कोई उत्सव नहीं है। बड़ा अच्छा लड़का है, लेकिन दिल का थोड़ा कमज़ोर, अक्सर अपनी गर्लफ्रेंड की बातें करता रहता है। कहता है कि घरवाले शादी के लिए नहीं मान रहे। कभी गुस्सा, कभी उदासी — उसके चेहरे पर सब साफ दिख जाता है। रात को जब हम दोनों बैठते हैं तो वो अपनी बातें खोलकर रख देता है। मैं सुनता रहता हूँ। कभी-कभी लगता हैं कि उसकी बातों के बीच कुछ चुप्पियाँ भी हैं जो शब्दों से बड़ी हैं। जैसे किसी पेड़ की छाया में बैठा आदमी धूप की बात करे। कभी लगता है

प्यार इंसान को मजबूत बनाता है और कभी लगता है वही उसे सबसे ज़्यादा असहाय भी कर देता है। उसकी बातें सुनकर मुझे लगता कि प्रेम मनुष्य को जितना सुख देता है, उतना ही दुःख भी। वह बेचारा कभी उम्मीद बाँधता, कभी निराश हो जाता। घर और दिल के बीच पिसता रहता। मैं चुपचाप सुनता रहता, क्योंकि ऐसे दुख में सलाह से अधिक सहारा चाहिए होता है। कई बार सोचता हूँ, संसार में कितने ही लोग ऐसे होंगे जो अपनी इच्छाओं और परिवार की मर्यादाओं के बीच फँसे हुए हैं। कोई अपने प्रेम को निभाने की जिद में टूट जाता है, तो कोई घर वालों की खुशी के लिए अपने मन को समझा लेता है और तब मुझे लगता है कि इंसान की सबसे बड़ी विडंबना यही है — वह दिल से जीना चाहता है, पर जीना उसे समाज के हिसाब से पड़ता है। उसका दर्द सुनकर कई बार अपने पुराने ख्याल भी याद आ जाते हैं कि हर किसी की जिंदगी में एक ऐसी कहानी जरूर होती है जो पूरी नहीं होती, लेकिन कभी खत्म भी नहीं होती। शायद प्रेम का सबसे बड़ा दुख यही है कि वह पूरा हो जाए तो कहानी खत्म हो जाती है, और अधूरा रह जाए तो जीवन भर साथ चलता है- जैसे कोई अनलिखा पत्र, जिसे पढ़ने वाला कभी नहीं मिलता।" फिर मैंने थोड़ा हँसकर कहा — "लगता है यार, इस दुनिया में आधे लोग प्यार में हैं और बाकी आधे किसी प्यार वाले की कहानी सुन रहे हैं। उसके जाने के बाद कमरा थोड़ा लंबा हो गया है और समय भी। उसकी आधी-अधूरी बातें इधर-उधर पड़ी रहती हैं। मुझे लगता है — कुछ प्रेम कहे नहीं जाते, बस कमरे में रह जाते हैं, चीज़ों की तरह। शायद प्रेम वही है, जो पूरा न होकर भी हमारे साथ रहता है। जैसे खिड़की से आती हवा दिखाई नहीं देती, पर महसूस होती रहती है। वैसे उसकी गर्लफ्रेंड मेरे जितनी उमर की होगी, एक बार उसने फोटो दिखाई थी, फिर भी उसको बेबी कह के बुलाता है।" वो फिर हँस पड़ी और बोली — "तुम ना, थोड़े अलग हो ,तुम्हारी बातें भी अजीब हैं… मगर अच्छी लगती हैं।" मैंने मज़ाक में कहा, "अलग नहीं, बस थोड़ा पुराना मॉडल हूँ।" वह हँसी, हँसी ऐसी थी जैसे किसी

खाली कमरे में अचानक खिड़की खुल जाए और थोड़ी हवा अंदर आ जाए। उसकी हँसी फोन के उस पार देर तक गूंजती रही। वो थोड़ी देर चुप रही, फिर धीमे से बोली, "आजकल तो सब एक-दूसरे को जाने क्या-क्या कहकर बुलाते हैं। कभी-कभी किसी को खास महसूस कराने के लिए लोग ऐसे नाम रखते हैं जैसे बेबी, जान, या कुछ भी। लोग जिनको 'बेबी' कहते हैं, वे सच में बच्चे नहीं होते, बस उस शब्द में थोड़ी सुरक्षा रख देते हैं।" "देखना" उसने धीमे स्वर में कहा, "जब कभी तुम्हें किसी से सच में प्यार होगा, तुम भी कोई प्यारा-सा नाम रख दोगे।" मैंने मुस्कुरा कर जवाब दिया, "हो सकता है, मगर तब भी शायद पहले उसका नाम ही पुकारूँ।" मैंने मज़ाक में कहा, "देखो, नाम से बुलाने का फायदा ये है कि लड़ाई हो तो भी इज़्ज़त बनी रहती है।" वो ज़ोर से हँसी, "मतलब तुम पहले ही लड़ाई तक सोच लेते हो?" "मैंने कहा, जहाँ प्यार होता है, वहाँ छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी होती हैं।" फोन के उस पार कुछ देर तक सिर्फ उसकी साँसों की आवाज़ थी। मुझे लगा शायद वो मुस्कुरा रही होगी। उसने धीमे से कहा, "तुम्हारी बातों में **simplicity** है। ऐसा लगता है जैसे कोई पुरानी डायरी पढ़ रहे हों।" मैं मुस्कुराया और बोला, "डायरी तो नहीं, लेकिन हाँ , चीज़ों को complicated करने में भरोसा नहीं है।" रात धीरे-धीरे लंबी होती जा रही थी। बातचीत कहीं भी जा सकती थी, लेकिन अजीब बात ये थी कि न वक़्त जल्दी में था और न हम जल्दी में थे। ऐसा लगा जैसे बातचीत खत्म नहीं हुई, बस थोड़ी देर के लिए रख दी गई है वैसे ही जैसे किताब में पन्ना मोड़कर रख देते हैं, ताकि फिर वहीं से पढ़ना शुरू किया जा सके। उस रात मुझे पहली बार लगा — कुछ बातचीत कहानी नहीं होतीं, बस छोटे-छोटे पल होते हैं, जिन्हें बाद में याद करके हम कहानी बना लेते हैं।

मैंने कहा कि कितना अच्छा होता अगर यही बातें हम एक-दूसरे के सामने बैठकर कर रहे होते। मैंने बस इतना ही कहा था कि तभी सामने से वीडियो कॉल आ गई। मन एक अजीब-सी दुविधा से भर गया कि बात कैसे शुरू

करूँगा, आँखों में आँखें डालकर क्या कह पाऊँगा? जैसे ही स्क्रीन पर रश्मि का चेहरा उभरा, भीतर एक हल्की-सी लहर दौड़ गई और मैं अनायास मुस्कुरा उठा। उसने सहजता से हाथ हिलाया, जैसे दूरी को एक क्षण में मिटा देना चाहती हो। वह हमेशा की तरह सादगी में थी। वो वैसे भी ज़्यादा मेकअप नहीं करती थी, दफ़्तर में भी अपनी सादगी में अलग ही लगती थी। इस बार भी आँखों में सिर्फ काजल था, लेकिन वही काजल जैसे उसकी पूरी बात कह रहा था। उसी काजल में जैसे अनकही बातों की पूरी कहानी ठहरी हुई थी। कुछ लोग सजते नहीं, बस वैसे ही अच्छे लगते हैं और रश्मि उन लोगों में से थी। उस पल लगा, स्क्रीन के उस पार कोई चेहरा नहीं बस एक एहसास बैठा है, जिससे बातें कम और महसूस ज़्यादा होता है। शब्दों से ज़्यादा खामोशियाँ बोल रही हैं और मैं उन्हीं खामोशियों को सुनता रह गया। उस रात बातें बहुत कम हुईं, पर आँखें जैसे बरसों का परिचय निभा रही थीं। शब्दों की जरूरत ही नहीं पड़ रही थी; बस एक-दूसरे को देखना ही काफी था। जैसे बातों ने खुद ही तय कर लिया हो कि आज चुप रहना है। हम बस एक-दूसरे को देखते रहे। देखना भी कभी-कभी बोलने से ज़्यादा बोलना होता है।

उस वीडियो कॉल के बाद सब कुछ वैसा नहीं रहा जैसा पहले था। मन में एक अनकहा अपनापन उतर आया, जैसे जन्मों-जन्मों से जान-पहचान हो। अब क्षण भर की दूरी भी अखरने लगी थी। धीरे-धीरे संदेशों की जगह फोन की बातें लेने लगीं। फोन कॉलें लंबी होती गईं और फिर वही बातें वीडियो कॉल की रोशनी में उतर आईं। कभी भी कॉल आ जाती ,आवाज़ बंद रहती पर साथ होने का एहसास बना रहता। दोनों अपने-अपने काम में लगे रहते, पर नज़रें बार-बार स्क्रीन की ओर चली जातीं जैसे स्क्रीन के उस पार का चेहरा अब सिर्फ चेहरा नहीं रहा, बल्कि आदत बन गया हो। समय बीतने के साथ एक-दूसरे को देखने की आदत चाहत में बदलने लगी। मन में मिलने की इच्छा ऐसे उभरने लगी जैसे बरसों से बिछड़े लोग मिलने की राह देख रहे हों। बिल्कुल

वैसे जैसे खिड़की के बाहर कोई पौधा अपने आप निकल आता है — चुपचाप, बिना शोर के, पर हर दिन थोड़ा और बढ़ता हुआ। दूरी अब दूरी नहीं रह गई थी, बल्कि मिलन की प्रस्तावना बन चुकी थी।

विष्णु वापस आ चुका था। मैंने मज़ाक में पूछा, "कैसी रही शादी?" वो मुस्कुराया, बैग एक तरफ रखते हुए बोला, "शादी तो ठीक थी, पर घर वालों के सवाल ज़्यादा थे। उसने मिठाई का डिब्बा मेरी तरफ सरका दिया। मिठाई सामने थी, पर लगता था जैसे वह अपने हिस्से की मिठास बाँट रहा हो और अपने हिस्से की कमी हल्के मज़ाक में छुपा रहा हो। कमरे में सब कुछ सामान्य था, फिर भी कुछ ऐसा था जो दिखता नहीं था, बस महसूस होता था। मिठाई की मिठास थी, दोस्ती वाली चुहल थी और बीच में जिंदगी का वो सच भी कि सबके हिस्से की कहानी एक जैसी नहीं होती, फिर भी लोग हँसते हुए आगे बढ़ते रहते हैं।

एक रात रश्मि का मैसेज आया — "कल शाम जयपुर आ रही हूँ घर , तुम यहीं हो या घर जा रहे हो?" मैसेज छोटा था, लेकिन पढ़ते ही चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान आ गई। ऐसा लग रहा था मानो वर्षों से जो तलाश मन के किसी कोने में दबे-दबे चल रही थी, वह अब जाकर समाप्त होने को है। जैसे कोई प्यासा राहगीर लंबी धूप और धूल भरी यात्रा के बाद दूर कहीं पानी की झिलमिलाहट देख ले और उसके कदम अपने आप तेज़ हो जाएँ। उस क्षण हर छोटी-सी बात भी अर्थपूर्ण लगने लगी थी — हवा की ठंडक, आसमान की नर्मी और दिल की धड़कनों का बढ़ जाना, मानो जीवन स्वयं कह रहा हो कि अब प्रतीक्षा का समय समाप्त होने वाला है। मैंने तुरंत जवाब नहीं दिया। थोड़ी देर तक फोन हाथ में लेकर बस सोचता रहा — क्या कहूँ, कैसे कहूँ। फिर करीब एक घंटे बाद कॉल किया। मैंने बस इतना कहा — "यहीं हूँ।" "यहीं हूँ" सिर्फ जगह बताने वाला जवाब नहीं होता, किसी के लिए ठहर जाने का इशारा भी होता है। उसने धीरे से कहा — "मेरा यहाँ लोकल है, इसलिए सार्वजनिक

जगह पर मिलना ठीक नहीं रहेगा। बस स्टैंड के पास कोई कैफ़े देख लेना, वहीं मिल लेते हैं। तुम जगह बता देना, मैं पहुँचने से आधा घंटे पहले फोन कर दूँगी।" उसके बोलने में एक संकोच भी था और सावधानी भी। उसके स्वर में एक अजीब संतुलन था — अपनापन भी और सीमाओं की स्पष्ट रेखा भी। फिर वह बोली, "अब बहुत पैकिंग करनी है, इतने दिनों बाद घर जा रही हूँ।" फिर उसने कहा — "कल मिलते हैं" — और फोन कट गया। फोन कटने के बाद मैं कुछ देर वैसे ही बैठा रहा। अजीब होता है ना — कभी-कभी पूरी बातचीत में सबसे ज़्यादा असर आखिरी लाइन छोड़ जाती है। "कल मिलते हैं।" बस यही दो शब्द दिमाग में रिपीट होने लगे। मैंने सोचा, कैसी होगी वो मुलाक़ात? दो महीने बाद सामने बैठकर क्या बात करेंगे? मैसेज और कॉल में जो आसानी होती है, वो आमने-सामने कहाँ रहती है। फिर लगा, कल का दिन केवल एक मुलाक़ात नहीं होगा; वह उन बातों का सामना भी होगा जो अब तक केवल आवाज़ों और कल्पनाओं में थीं। रात खिड़की के बाहर उतर रही थी, और भीतर एक अनाम-सी बेचैनी — मीठी, हल्की, पर गहरी — धीरे-धीरे फैलती जा रही थी। रात धीरे-धीरे आई। उसने कुछ नहीं किया, सिर्फ इंतज़ार को थोड़ा-सा अपने पास बैठने दिया।

फिर जब सुबह आँख खुली तो भीतर कुछ अलग ही हलचल थी—एक हल्की-सी खुशी, जिसमें झिझक भी घुली हुई थी। मन में एक अनोखी-सी हलचल थी, जैसे कोई बालक मेले के दिन की प्रतीक्षा करता है, वैसी ही उत्सुकता भीतर उमड़ रही थी। दिन किसी तरह बीता और शाम का इंतज़ार लंबा होता गया। करीब चार बजे रश्मि का कॉल आया। उसने कहा कि वह एक घंटे में बस स्टैंड पहुँच जाएगी। मैंने कहा, "ठीक है, तुम पहुँचकर कॉल कर लेना, फिर साथ चल पड़ेंगे।" वो थोड़ी देर चुप रही, फिर धीमे से बोली— "नहीं, साथ नहीं जाना ,कोई देख लेगा। यहाँ कोई परिवार का जानकार मिल गया तो?" उसकी आवाज़ में सावधानी थी और शायद थोड़ी चिंता भी। जैसे

वह अपने कदम सोच-समझकर रख रही हो। मैंने बस इतना कहा, “अच्छा, जैसा तुम ठीक समझो।” फोन रखकर मैं कुछ देर यूँ ही बैठा रहा। इंतज़ार अब और भी गहरा हो गया था, घड़ी की सुइयाँ जैसे जान-बूझकर धीरे चल रही थीं। मन में एक ओर मिलने की खुशी थी और दूसरी ओर समाज की उन अदृश्य दीवारों का अहसास, जिनके बीच से होकर लोगों को अपने छोटे-छोटे सुख भी छुप-छुप कर ढूँढ़ने पड़ते हैं। ।

पाँच बजने में अभी कुछ ही समय शेष था पर मैं पहले ही वहाँ पहुँच गया। मन में एक अजीब-सी घबराहट और उत्सुकता थी। बस स्टैंड के निकट ही एक छोटा-सा कैफ़े दिखाई पड़ा। भीतर प्रवेश किया तो देखा, भीड़-भाड़ नाममात्र थी — बस एक-दो आदमी अपने में मग्न बैठे थे। मैंने कोने की एक मेज़ चुन ली। मेज़ों के बीच हल्की-हल्की पार्टिशन लगी हुई थी, जिससे एक मेज़ पर बैठा व्यक्ति दूसरी ओर बैठे व्यक्ति को स्पष्ट न देख सके। यह व्यवस्था मुझे कुछ राहत देने वाली लगी। मैं चुपचाप बैठा प्रतीक्षा करता रहा। घड़ी की सुइयाँ जैसे हर मिनट के साथ दिल की धड़कन बढ़ा रही थीं। तभी कुछ देर बाद फोन की घंटी बजी। उधर से उसकी आवाज़ आई — “मैं पहुँच गई।” मैंने धीमे स्वर में कैफ़े का नाम और अपनी जगह बता दी और फिर मेरी निगाहें दरवाज़े की ओर टिक गईं। पाँच मिनट बाद वह सामने से आती हुई दिखाई दी। जैसे ही वह भीतर आई, मैं अनायास ही खड़ा हो गया। उसने एक हल्की मुस्कान के साथ मेरी ओर देखा और आकर पास बैठ गई। कुछ पल तक बस औपचारिक-सी हाय-हेलो रही, जैसे शब्द अपने अर्थ खोज रहे हों। फिर मैंने मेन्यू उठाकर उसके हाथों में दिया। वह बोली, “तुम ही बताओ, क्या मँगाएँ?” मैंने सहज भाव से कहा, “जो तुम्हें अच्छा लगे, वही ठीक है।” उसने कॉफी और सैंडविच का ऑर्डर दे दिया। वह हल्के नीले रंग की जीन्स और गहरे सलेटी रंग के कुर्ते में थी। उसके व्यक्तित्व में कोई दिखावा न था और एक सादगी ऐसी थी जो सहज ही ध्यान खींच ले। वातावरण में एक शांत अपनापन घुला था—जैसे बरसों

बाद मिलते हुए दो लोग शब्दों से अधिक अपनी चुप्पियों में बात कर रहे हों। शब्द कम थे, पर उन कम शब्दों के बीच भी एक ऐसा स्पर्श था जो सीधे मन तक पहुँचता था, जैसे कोई पुराना गीत अचानक याद आ जाए और काफ़ी देर तक भीतर गूँजता रहे। वह सामने बैठी थी—थोड़ी थकी हुई, थोड़ी बुझी हुई। आँखें लाल थीं और उनमें पानी भरा हुआ था, नाक भी सुर्ख थी और आवाज़ में धीमापन आ गया था। मैंने पूछा, “जुकाम हो गया क्या?” वह मुस्कराने की चेष्टा करती हुई बोली, “हाँ, परसों रात ठंडा पानी पी लिया था, तभी से तबीयत कुछ ठीक नहीं।” मैंने उसके माथे पर हाथ रखा तो ताप स्पष्ट महसूस हुआ। “अरे, तुम्हें तो बुखार है,” मैंने चिंता से कहा। “सर दर्द कर रहा है,” उसने कहा। वह मेरी ओर बैठी थी और उसका कंधा मेरे कंधे से लगा हुआ था। कुछ देर बाद उसने धीरे से सिर मेरे कंधे पर रख दिया और बोली, “घर जाकर दवाई लेनी पड़ेगी।” तभी कॉफी और सैंडविच आ गए। हम चुपचाप खाने लगे। उस क्षण कॉफी की खुशबू से ज़्यादा उसकी थकान महसूस हो रही थी। इतने में उसका फोन बजा। भाई का फोन था। वह बोली, “आधे घंटे में बस स्टैंड पहुँच जाऊँगी, तुम दस मिनट बाद निकलना।” फोन रखकर वह कुछ देर वैसे ही सिर टिकाए रही। उस समय शब्दों की आवश्यकता नहीं थी; मौन ही सब कुछ कह रहा था। उसने धीरे से कुर्सी खिसकाई, जैसे कोई बात अधूरी छोड़ते हुए भी पूरी करना चाहती हो। मुस्कुराकर बोली—“अभी एक हफ़्ता यहीं हूँ, देखती हूँ, शायद दफ़्तर आ जाऊँ एक-आध दिन में। फिर बैठकर बातें करेंगे और मैं उसी सीट पर बैठूँगी। फिर बताना कैसा महसूस करोगे।” उसकी आवाज़ में एक हल्की सी शरारत थी और जाने की अनकही उदासी भी। उसके शब्द साधारण थे, पर उनके भीतर एक अनकहा वादा था—जैसे समय ने हमारे बीच कोई हल्की-सी रेखा खींच दी हो, जिसे हम दोनों देख तो रहे थे पर छू नहीं पा रहे थे। मैं चाहता था कि उस क्षण को थाम लूँ, उसे अपने पास रोक लूँ, पर कुछ रिश्ते शब्दों से नहीं, सिर्फ़ चुप्पियों से निभते हैं। वह उठी और धीरे-धीरे कदम

बढ़ाने लगी, जैसे हर कदम के साथ मेरे भीतर कुछ पीछे छूटता जा रहा हो। उसकी चाल में कोई जल्दबाज़ी नहीं थी, जैसे हर कदम एक याद छोड़ता जा रहा हो। मन में चाह थी कि उसे रोक लूँ, बस एक बार गले लगा लूँ, पर संस्कार और संकोच आदमी को कितना बाँध लेते हैं, यह उस क्षण समझ में आया। मन की झिझक ने होंठों तक आते शब्दों को फिर से लौटा दिया। रश्मि ने मुड़कर देखा, हल्की सी मुस्कान दी और आगे बढ़ गयी। मैं उसी सीट पर बैठा रह गया — चुप, स्थिर, जैसे समय वहीं ठहर गया हो। आँखें उसकी जाती हुई परछाई का पीछा करती रहीं, जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गयी। उसके जाने के बाद भी उसकी मौजूदगी वहीं थी — उस कुर्सी पर, हवा में, और मेरे भीतर उठती उस खाली-सी गूँज में, जो कह रही थी कि कुछ मुलाकातें ख़त्म होकर भी ख़त्म नहीं होतीं। उसके जाने के बाद हवा वैसी ही थी, लोग वैसे ही थे, पर समय थोड़ा अलग हो गया था। जैसे किसी ने दिन के भीतर एक धीमी-सी खिड़की खोल दी हो, जहाँ से यादें बिना आवाज़ के आती-जाती रहती हैं।

उसके बाद मैं भी अपने कमरे पर लौट आया। कमरे की ख़ामोशी में जैसे दिन भर की सारी हलचल धीरे-धीरे उतरने लगी। तभी रश्मि का मैसेज आया — "घर पहुँच गयी हूँ, तुम कॉल मत करना, मैं कर लूँगी।" मैंने 'हम्म' लिखा। उसने लिखा — यार, एक तो ये 'हम्म' मत लिखा करो, मुझे इस शब्द से बहुत खीझ होती है। ऐसा लगता है जैसे तुम मुझे इग्नोर कर रहे हो। मैंने कहा — ठीक है, आगे से नहीं लिखूँगा। फिर उसने 'K' लिखा। मैंने कहा — क्या कह रही हो, समझ नहीं आया। वह बोली — 'OK'। मैंने कहा — ये तो 'K' था। वह कहने लगी — ऐसे ही लिखते हैं। मैंने मज़ाक में कहा — 'OK' को 'K' लिखकर अपनी ज़िंदगी का कितना समय बचा लिया तुमने। उसने हँसने वाली इमोजी भेजी और 'ROFL' लिखा, जिसका मतलब मुझे गूगल करने पर पता चला। फिर उसने मैसेज भेजा कि ठीक है, चल खेल ले इतना, मैं ग्यारह बजे सी फोन करूंगी। मैंने समय काटने के लिए ग्यारह बजे तक मूवी देखी, मगर

सच तो यह था कि ध्यान कहानी पर कम, उसके इंतज़ार पर ज़्यादा था। मन तो बार-बार उसी ओर लौट जाता, जब वह मेरे कंधे पर सिर रखे बैठी थी। फिर फोन बजा — रश्मि थी। उसकी आवाज़ धीमी थी, जैसे रात की हवा में घुली हुई। मैंने पूछा, “तबीयत ठीक नहीं है क्या?” वह बोली, “अब ठीक है, दवाई ले ली थी। तेज बोलूँगी तो बगल वाले कमरे में आवाज़ चली जाएगी।” थोड़ी चुप्पी के बाद उसने धीमे से कहा, “एक बात बताऊँ? जब तुम्हारे कंधे पर सिर रखा था न, बहुत सुकून मिल रहा था। दिल कर रहा था उठूँ ही नहीं।” यह सुनते ही जैसे शाम का वह पल फिर से आँखों के सामने आ गया। मैंने हँसते हुए कहा, “यार, मेरा तो तुम्हें हग करने का मन कर रहा था।” वह बोली, “तो कर लेते, मैंने कब मना किया ?” मैंने कहा, “वहाँ लोग थे, कैसे करता?” वह हल्के से मुस्कुराई, “हाँ, ये भी सही है, वहाँ अच्छा नहीं लगता।” तभी मैंने कह दिया, “तेरी बहुत याद आ रही है।” वह बोली, “कोई ना, परसों दफ़्तर आऊँगी, इतना सब्र कर लो।” रात गहराने लगी थी। उसने कहा, “अब सो जाओ, कहीं घर पर कोई सुन न ले। गुड नाइट, स्वीट ड्रीम्स।” वह धीमे से हँसी। मैंने फिर कहा, “फोन मत काटना, इसे पास में ही रखकर सो जाना, तुम्हारी साँसों की आवाज़ सुनते-सुनते मैं भी सो जाऊँगा।” उसने कुछ नहीं कहा, बस फोन वैसे ही रख दिया। थोड़ी देर बाद उसकी साँसें हल्की और स्थिर हो गयीं। उस खामोशी में भी एक अपनापन था, जैसे दो लोग दूर होकर भी एक ही कमरे में हों। कब उसकी नींद में मेरी नींद घुल गयी, पता ही नहीं चला। अगली सुबह रविवार था, इसलिए आँख कुछ देर से खुली। कमरे में हल्की धूप फैली हुई थी । फोन सुबह छह बजे तक चलता रहा। शायद हम दोनों में से किसी ने भी उसे बंद नहीं किया था जैसे बातचीत खत्म नहीं हुई थी, बस नींद ने उसे थोड़ी देर के लिए रोक दिया हो। मैंने स्क्रीन देखी, मुस्कराया और फिर धीरे से कॉल काट दी। रात की नींद जैसे फिर से मुस्कुरा उठी।

कुछ देर बाद रश्मि का फ़ोन आया। उसकी आवाज़ में हल्की-सी जल्दी और एक अलग ही उत्साह था। उसने कहा, "आज हम अपने पैत्रिक गाँव जा रहे हैं। वहाँ मुझे सम्मानित करेंगे। आखिर अपने परिवार की मैं पहली जज हूँ, वकील तो बहुत रहे, पर यह मुकाम किसी को नहीं मिला।" उसके शब्दों में गर्व था, पर वह गर्व अहंकार का नहीं, परिश्रम और संघर्ष की शांत चमक का था। मैं कुछ क्षण चुप रहा, मानो उसके वर्षों के परिश्रम की ध्वनि सुन रहा हो। फिर वह बोली, "शाम को घर पहुँचकर कॉल कर लूंगी, तुम बीच में मत करना।" जाते-जाते उसने यूँ ही पूछा, "तुम क्या करोगे आज सारा दिन?" मैंने कहा कि बस विष्णु के साथ बाज़ार जाने का इरादा है, थोड़ा घूमना-फिरना, शॉपिंग और शायद कोई मूवी देखना। वह हल्की-सी हँसी के साथ बोली, "ठीक है, चल ओके, बाय, मम्मी बुला रही है," और कॉल कट गया। फिर मैं और विष्णु बाज़ार गए और शाम को वापस आए। हमने थोड़ी-बहुत खरीदारी की, इधर-उधर घूमे, एक फ़िल्म देखी और फिर शाम ढलते-ढलते कमरे पर लौट आए। मैं अपने कमरे में चुपचाप बैठा था कि रात लगभग नौ बजे रश्मि का फोन आया। उसकी आवाज़ में सफ़र की थकान थी, पर अपनापन पहले जैसा ही। उसने धीरे-धीरे बताना शुरू किया—"हम आठ बजे पहुँच गए थे , अब कपड़े बदलकर अपने कमरे में आई हूँ।" मैंने सहजता से पूछा, "और खाना खा लिया?" वह हल्का सा मुस्कुराकर बोली, "खाना तो गाँव से ही खाकर चले थे। तुम बताओ, शॉपिंग कर आए? और मूवी कौन-सी देखी?" मैंने कहा, "दो लफ़्ज़ों की कहानी।" वह उत्सुक हो उठी—"किसकी है?" मैंने जवाब दिया, "रणदीप हुड्डा की।" फिर हमारे बीच देर तक बातें चलती रहीं। मेरे मन में अगले दिन को लेकर एक मीठी-सी हलचल थी। रश्मि की आवाज़ में भी वैसी ही चमक थी। उसके हर जवाब से लगता था कि वह भी इस मुलाक़ात को लेकर उतनी ही उत्साहित है। वह बोली, "कल किस टाइम आऊँ?" मैंने कहा, "लंच से थोड़ा पहले आ जाना, पहले सब लोगों से मिल

लेना, फिर हम साथ में लंच करेंगे।" बातें यूँ ही चलती रहीं—कभी हल्की हँसी, कभी छोटी-छोटी योजनाएँ, और बीच-बीच में आने वाले कल की कल्पनाएँ। रात धीरे-धीरे गहराती गयी और बातों का सिलसिला थमता-सा गया। आखिरकार, उसी बातचीत के बीच हम दोनों नींद के हवाले हो गए।

सुबह उठते ही मैं दफ़्तर चला गया। मन में एक ही बात थी—काम जल्दी निपटा लूँ, ताकि बाद में जब रश्मि आये तो उसके साथ थोड़ा समय खुलकर बिताया जा सके। हाथ काम में लगे थे, पर नज़र बार-बार दरवाज़े की ओर चली जाती थी। करीब बारह बजे वह आती दिखाई दी। उसे देखते ही भीतर जैसे कोई अनकही खुशी जाग उठी। वह तो पहले भी आती रही थी, पर आज कुछ अलग था—शायद रिश्ते के बदल जाने की वजह से। वह पहले सब लोगों से मिलती रही। मैं दूर से ही उसे देखता रहा और चेहरे पर मुस्कान थमने का नाम नहीं ले रही थी। मैं दूर बैठा मुस्कुराता रहा, जैसे किसी बालक को अपनी प्रिय वस्तु दिखाई दे गई हो। अंत में वह मेरी ओर आई। मैंने हल्के मज़ाक में कहा, "आइए मैडम जी, आज कैसे रास्ता भूल गए?" उसने मुझे घूरकर देखा, जैसे जवाब में कुछ कहना चाहती हो और फिर आकर ठीक वहीं बैठ गई जहाँ पहले बैठा करती थी। हम धीरे-धीरे बात करने लगे। बातें साधारण थीं, पर उनमें अपनापन घुला था। तभी जब किसी की नज़र हमारी ओर न थी, उसने मुझे ज़ोर से कोहनी मारी। उस छोटी-सी शरारत में मानो सारा स्नेह छिपा था—एक ऐसी भाषा, जिसे शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। उस छोटी-सी शरारत में शिकायत भी थी, अपनापन भी, और एक अनकहा इशारा भी—कि कुछ बातें शब्दों से नहीं, बस एहसासों से समझी जाती हैं। लंच का समय होते ही कमरे में हलचल सी मच गयी। लोग रोज़ की तरह अपनी-अपनी कुर्सियाँ छोड़कर बाहर जाने लगे। जाते-जाते सबने रश्मि को भी खाने के लिए कहा, पर उसने पहले की ही तरह हल्की मुस्कान के साथ मना कर दिया। मैंने अपना टिफिन खोल लिया। हम दोनों चुपचाप खाने लगे। शब्द कम थे, पर मौन में भी बहुत

कुछ कहा जा रहा था। तभी मैंने चारों ओर नज़र दौड़ाई — कमरा लगभग खाली हो चुका था। एक अजीब-सी धड़कन भीतर उठी। मैं धीरे से खड़ा हुआ और उसे भी खड़े होने का इशारा किया। वह जैसे ही उठी, मैंने उसे बाँहों में भर लिया। एक नज़र दरवाज़े पर थी, दूसरी उसके चेहरे पर। वह आलिंगन जैसे समय से चुरा लिया गया एक छोटा-सा अनंत क्षण था। करीब एक मिनट तक हम यूँ ही खड़े रहे — बिना शब्दों के, केवल धड़कनों की आवाज़ सुनते हुए। फिर मैंने उसके माथे को चूमकर धीमे से कहा, "आई लव यू" । उसने कुछ नहीं कहा। बस और कसकर गले लगा लिया। उसका यह मौन ही उसका जवाब था। उसका मौन जैसे शब्दों से कहीं अधिक गहरा था — जैसे आत्मा ने आत्मा को स्वीकार कर लिया हो। एक तरफ मन में डर था कि कहीं कोई आ न जाए, दूसरी तरफ ऐसा सुकून कि जैसे सारी दुनिया से छुटकारा मिल गया हो। हमने जल्दी-जल्दी खाना खत्म किया। फिर मैं उसके कंधे पर सिर रखकर बैठ गया। आधी नज़र दरवाज़े पर थी, आधी एक-दूसरे में खोई हुई। उसके हाथ मेरे बालों में धीरे-धीरे फिर रहे थे, जैसे कोई बेचैनी को सहला रहा हो। वह धीमे से बोली — "यार, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती।" मैंने भी उतनी ही धीमी आवाज़ में कहा — "रह तो मैं भी नहीं पाऊँगा, ये गर्लफ्रेंड-बॉयफ्रेंड वाला प्यार नहीं लग रहा, कुछ और ही है।" और सच में, शायद कुछ रिश्ते नाम माँगते ही नहीं। बस होते हैं और धीरे-धीरे हमारी जिंदगी का सबसे सच्चा हिस्सा बन जाते हैं। उस क्षण लगा जैसे प्रेम कोई रिश्ता नहीं, एक शरण हो , जहाँ दो लोग खुद को पहली बार पूरी तरह समझ पाते हैं। कमरे में शांति थी, बाहर की दुनिया चल रही थी। अंदर समय थोड़ा ठहरा हुआ था। हम कुछ देर यूँ ही साथ बैठे रहे, बातों का सिलसिला धीरे-धीरे बहती नदी की तरह चलता रहा। शब्द कम थे, पर उनके बीच का सन्नाटा भी किसी मीठे संवाद जैसा लग रहा था। तभी दूर से एक शख़्स आता दिखाई दिया। जैसे ही उसकी आहट पास आई, हम दोनों सहसा थोड़े संभलकर अलग हो बैठे, मानो पलभर पहले की निकटता को हवा

से भी बचाना हो। कुछ ही देर बाद रश्मि का फोन बजा। उसने फोन उठाया, स्वर धीमा पड़ गया—"हाँ, बस दो मिनट" और फिर मेरी तरफ देखकर कहा, "भाई नीचे खड़ा है।" उस एक वाक्य में जाने कितनी जल्दी, कितनी मजबूरी और कितनी अनकही बातें थीं। उसने हल्के से मुस्कुराकर "बाय" कहा और उठकर चल दी। मैं उसे जाते हुए देखता रहा। कदम तो उसके आगे बढ़ रहे थे, पर लगता था जैसे कुछ पीछे छूटता जा रहा हो—शायद अधूरी बातें, शायद एक अनकहा स्पर्श, शायद वह क्षण जो अभी-अभी हमारा था। उसके जाने के बाद हवा वही रही, जगह वही रही, पर भीतर एक खालीपन उतर आया। जैसे प्रेम कभी-कभी अपने होने का एहसास इसी तरह देता है—मिलन में नहीं, बल्कि विदा के उन छोटे-से पलों में, जहाँ शब्द खत्म हो जाते हैं और अनुभूति बोलने लगती है।

उसके बाद मैं भी काम निपटा कर कमरे पर आ गया। विष्णु वहाँ था। कमरे में आते ही लगा जैसे कोई बात पहले से बैठी हो और हम दोनों उसके पास जाकर चुपचाप बैठ गए हों। सामने बोतल खुली पड़ी थी। आधी खाली, आधी भरी — जैसे आधा दुख पी लिया गया हो और आधा अभी बाकी हो। मैंने बोतल उठाई और रखने लगा तो देखा उसका ढक्कन ही नहीं था। मैंने पूछा, "ढक्कन कहाँ है?" वह चुपचाप कूड़ेदान की ओर इशारा करने लगा। समझ गया कि उसने बोतल खोलते ही ठान लिया था कि इसे खत्म करके ही उठेगा। मैंने कहा, "क्यों भाई, जान देनी है क्या शराब पीकर?" वह फीकी हँसी हँसकर बोला, "जीकर भी क्या करूँ? सब कुछ सह सकता हूँ, पर उसे रोते नहीं देख सकता। आज वह बच्चों की तरह रो रही थी। कल उसे देखने वाले आ रहे हैं। अगर हमारी शादी न हुई तो हम दोनों में से कोई कुछ कर बैठेगा।"

उसकी बात सुनकर मुझे दया भी आई और चिंता भी। मैंने धीरे से कहा, "ऐसी बातें नहीं करते। दुनिया में दुख बहुत हैं, पर उनका हल अपने को मिटा देना नहीं होता। प्रेम का अंत मौत नहीं होता" वह बोला, "जिस पर गुजरती है, वही

जानता है।" मैंने शांत स्वर में कहा, "हो सकता है तू सही कहता हो, पर एक बात याद रख,शराब कभी दुख कम नहीं करती, बस आदमी की हिम्मत जरूर कम कर देती है। जो बात समझदारी से सुलझ सकती है, वह नशे में और उलझ जाती है।" यह कहकर मैंने बोतल एक ओर रख दी। कमरे में थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। बाहर रात गहराने लगी थी और भीतर हम दोनों अपने-अपने विचारों में डूबे बैठे थे। मैंने उससे कहा कि एक बात मुझे भी बतानी है। बात जैसे जेब में रखी हुई थी, धीरे-धीरे निकालकर मैंने उसे दे दी। शुरू से आखिर तक सब कह दिया। वह कुछ देर तक सोचता रहा, जैसे मेरे शब्दों का बोझ तौल रहा हो। फिर बोला, "भाई, हमारी तो अपनी ही बिरादरी में शादी नहीं हो पा रही, तुम्हारी अलग जात में कैसे हो जाएगी? ऑनर किलिंग का नाम सुना है न? कहीं वही न हो जाए। अभी से संभल जाओ, नहीं तो पछताओगे।" उसकी बात सुनकर मेरे मन में हल्की-सी बेचैनी हुई, पर मैंने अपने विश्वास को कमजोर नहीं होने दिया। मैं बोला, "ऐसा कुछ नहीं होगा। अभी बहुत वक्त है, धीरे-धीरे घर वाले मान ही जाएंगे।" वह हँस पड़ा, मगर उस हँसी में दर्द छिपा था। बोला, "मान जाएँ तो अच्छा है, नहीं तो हमारा हाल तुम्हारे सामने ही है। जब घर-परिवार की बात आती है न, आदमी की चाहत छोटी पड़ जाती है।" उसके शब्दों में अनुभव की कड़वाहट थी और मेरे मन में उम्मीद की मिठास। मैं चुप हो गया। बाहर शाम उतर रही थी और भीतर मेरे मन में उम्मीद और डर दोनों साथ-साथ बैठ गए थे। मैं समझ रहा था कि रास्ता आसान नहीं है, फिर भी दिल मानने को तैयार नहीं था। इतने में रश्मि का फोन आ गया, तो विष्णु बोला — "जा भाई, कर ले बात। नाश करवाना है तो ढंग से करवा, कम से कम मेरी हालत ही देख लेता।" मैं बोला — "कोई ना, थोड़ी देर में कर लूँगा।" वो फिर हँसते हुए बोला — "कर ले भाई, कहीं उसका खाना ही गले से नीचे ना उतरे।" विष्णु के इस व्यवहार में गुस्सा नहीं था, उसके शब्दों के पीछे मेरे लिए चिंता थी और अपने हालात को लेकर हल्की-सी झुंझलाहट। उसकी

बातों में दोस्ती की वही सच्चाई थी — ताना भी, अपनापन भी, और अंदर ही अंदर फिक्र भी। मैंने चुपचाप वहाँ से चले जाना ही उचित समझा। जाते-जाते कमरे से बोतल उठा ली। उसने मेरी ओर तीखी निगाहों से देखा, पर कुछ बोला नहीं। बाहर आकर मैंने रश्मि को फोन किया। उसकी आवाज़ में हल्की शिकायत थी—“फोन क्यों नहीं उठाया?” मैंने कहा—“विष्णु के साथ था।” फिर बातें बहने लगीं ,बिना दिशा की, मगर भीतर कहीं बहुत गहरी। जैसे शब्द नहीं, दो साँसें एक-दूसरे को सुन रही हों। रात धीरे-धीरे अपने शांत अँधेरे में उतर रही थी। कमरे में बस फोन की हल्की सी आवाज़ और दो दिलों के बीच बहती हुई बातें थीं। रश्मि की आवाज़ में एक अजीब सी नमी थी, जैसे कोई याद अभी-अभी जन्मी हो और जाने से डर रही हो। वह कह रही थी कि उसे ऐसा लग रहा है जैसे अब भी उस का सिर उसके कंधे पर रखा हो और हम दोनों अभी भी साथ बैठे हों।

उसे सचमुच महसूस हो रहा था कि वह उसके पास है — उसकी साँसों की गर्माहट, बातों का ठहराव, और बीच-बीच में आने वाली वह चुप्पी, जो किसी भी शब्द से ज़्यादा कहती थी। रश्मि के स्वर में एक हल्की बेचैनी थी। अगले हफ्ते उसे लौट जाना था और जाने का खयाल ही उसके मन को उदास कर रहा था। कल वह अपने परिवार के साथ वैष्णो देवी जाने वाली थी। वो बोली कि सुबह जल्दी निकलेगे और फोन यही छोड़ जाउंगी । शनिवार को लौटेगी और रविवार को फिर चली जाएगी — जैसे समय ने उनके साथ बिताए पलों को बहुत जल्दी समेटने की ठान ली हो। फिर रश्मि ने बहुत धीरे से कहा, “आई लव यू टू” , वह जवाब जैसे देर से आया हुआ कोई एहसास था जो अब आकर पूरा हो रहा था। मेरा मन हुआ कि अभी उठे और उससे मिलने चला जाए। रात और गहरी होती गई। बातों का सिलसिला कभी हँसी में बदल जाता, कभी चुप्पी में। मुझे लग रहा था जैसे उसके साँसों की खुशबू अब भी मेरे आसपास बसी हो, जैसे किसी अनदेखे स्पर्श ने मुझे घेर रखा हो। शब्द धीरे-धीरे थकने

लगे, पलकें भारी होने लगीं। सोचते-सोचते, सुनते-सुनते हमारी बातें नींद में कब घुल गई, पता ही नहीं चला।

सुबह नींद खुली तो सबसे पहले मोबाइल की स्क्रीन पर नज़र गई। चार बजे का एक छोटा-सा "गुड मॉर्निंग" का संदेश चमक रहा था। शब्द तो बस दो ही थे, पर उन्हें पढ़ते ही मन में अजीब-सी खाली जगह भर गई। यह एहसास बार-बार चुभ रहा था कि अब पूरे पाँच दिन उससे बात नहीं हो पाएगी। दिन जैसे किसी भारी बोझ की तरह गुजरने लगे। सुबह होती, शाम ढलती, पर समय मानो रुक-सा गया था। काम में मन नहीं लगता था। एक दिन तो ऐसा आया कि दफ़्तर जाने की हिम्मत ही नहीं हुई, बस कमरे पर ही पड़ा रहा। खिड़की से आती रोशनी दीवार पर धीरे-धीरे सरकती रहती और मैं बिना वजह उसे देखता रहता। दफ़्तर में भी कुछ खास नहीं चल रहा था, लेकिन असल खालीपन वहाँ नहीं, भीतर था। हर छोटी-सी बात में उसकी याद चली आती—फोन की हल्की-सी आवाज़, किसी का मुस्कुराकर बात करना, या अचानक आती हुई कोई खुशबू। लगता था जैसे दिन चल तो रहे हैं, पर उनमें कोई रंग नहीं बचा। समय बीत रहा था, पर मन किसी अधूरे संवाद में अटका हुआ था—जैसे कहानी का कोई पन्ना पलटना बाकी हो।

इधर विष्णु ने बताया कि वह जल्द ही अजमेर में अपनी खुद की लॉ फर्म खोलने जा रहा है और यहाँ से चला जाएगा। उसकी आवाज़ में उत्साह भी था और हल्की-सी उदासी भी। आवाज़ में एक खिंचाव भी था, जैसे किसी अपने को पीछे छोड़ने की हिचक हो। बोला, "त्रिवेदी जी बहुत अच्छे इंसान हैं, उन्हें छोड़कर जाने का मन तो नहीं करता, लेकिन वहाँ पिताजी भी रिटायर हो रहे हैं। अजमेर में अपना चैंबर है, पुराने क्लाइंट्स हैं, और बड़ा भाई विदेश में है — घर की ज़िम्मेदारियाँ भी तो आखिर मुझे ही निभानी हैं। इसलिए अगले महीने जाना तय है।" मैं चुपचाप उसकी बातें सुनता रहा। थोड़ी देर बाद मैंने भी

मन की बात कह दी — "मेरा भी अब दफ़्तर की फाइलों से मन भर चुका है, यार। सोचता था अदालत में बहस करूँगा, दलीलें दूँगा, लेकिन यहाँ तो बस एफ़िडेविट पर साइन करना या किसी सीनियर की जगह अगली तारीख लेने जाना ही काम रह गया है। कहते हैं हमारे क्लाइंट्स बड़े हैं, इसलिए चार-पाँच साल तक बहस करने का सोचो भी मत। फिर लॉ की डिग्री ली ही क्यों थी मैंने?" इधर रश्मि बता रही थी कि जज की नौकरी में भी कुछ नहीं रखा। न यूपीएससी की तैयारी में मन लग रहा — "करूँ तो करूँ क्या? एक मन कर रहा है पंडिताई शुरू कर दूँ।" यह सुनकर विष्णु हँसने लगा। विष्णु बोला — "अच्छा तो अब जज साहिबा को अपनी नौकरी बुरी लगने लगी? ये तो कमाल है!"

विष्णु कुछ देर शांत रहा, जैसे सही शब्द तलाश रहा हो। उसकी आँखों में दोस्त की चिंता साफ दिख रही थी। कमरे में हल्की-सी चुप्पी फैल गई — वही चुप्पी जिसमें इंसान अपने सपनों का वजन महसूस करता है। बाहर लोग अपनी-अपनी रफ्तार में चल रहे थे और हम दोनों अपने-अपने रास्तों के मोड़ पर खड़े थे। फिर विष्णु ने कहा, "भाई तुम ऐसा करो, त्रिवेदी जी के पास चले जाओ। पंडित ही हैं वो, तुम्हारी बढ़िया निभेगी। उनका क्लाइंट बेस भी अच्छा है। अब सारी तारीखों पर मैं ही जाता हूँ, वो बस क्लाइंट्स को हैंडल करते हैं। मैं बात करवा दूँगा, ठीक है।" उसकी बात सुनकर मैं कुछ पल चुप रहा। मन में जैसे कई रास्ते एक साथ खुलते और बंद होते दिखाई दे रहे थे। नौकरी की उलझन, भविष्य की अनिश्चितता और अपने भीतर की थकान — सब मिलकर सिर पर जैसे बोझ बन गए थे। मगर विष्णु की आवाज़ में एक अपनापन था, जैसे वह सिर्फ सलाह नहीं दे रहा हो बल्कि मेरे लिए कोई ठिकाना खोज रहा हो। मैंने हल्की-सी मुस्कान के साथ सिर हिलाया और कहा, "हाँ, ठीक है।" आज संडे था। सुबह का आसमान कुछ सुस्त-सा था, जैसे दिन भी विदाई की आहट सुनकर धीमा चल रहा हो। रात को रश्मि का मैसेज आया था — "मैं घर आ

गई हूँ, सुबह दस बजे बस स्टैंड वाली जगह पर आ जाना, फिर मैं चली जाऊँगी।" उस एक लाइन में मिलने की खुशी भी थी और बिछड़ने की हल्की-सी कसक भी। सुबह ठीक साढ़े नौ बजे उसका फोन आया। आवाज़ में जल्दबाज़ी थी, शायद घरवालों की मौजूदगी की वजह से। उसने कहा, "आ जाओ, मैं निकल रही हूँ ,साथ में भाई होगा। मैं बस में बैठ जाऊँगी, उसके जाने के बाद उतर जाऊँगी।"

मैंने बस इतना कहा — "ठीक है, आता हूँ।" मगर दिल में जाने कितनी बातें उमड़ रही थीं। मैं जल्दी-जल्दी तैयार हुआ और बस स्टैंड की तरफ चल पड़ा। रास्ता वही था, पर आज हर मोड़ कुछ अलग लग रहा था।

थोड़ी देर बाद रश्मि सामने से आती दिखाई दी। घीया रंग का सलवार-कमीज़, बाल हल्के से खुले हुए, सादगी ऐसी थी कि देखने वाले की नज़र ठहर जाए, पर उसमें कोई बनावट नहीं थी — बिलकुल वैसे ही जैसे गांव की सुबह बिना शोर के आ जाती है। मैं उसे देख कर धीरे से खड़ा हुआ और दीवार की तरफ हटने लगा। वह मुस्कराकर बोली, "मैं चली जाती हूँ, दीवार की तरफ" और उसकी आवाज़ में संकोच भी था और अपनापन भी। मैंने पहले ही बनाना शेक मंगवा रखा था, जैसे उसके आने से पहले ही उस पल की तैयारी कर ली हो। बातों के बीच उसने धीरे से अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया। उसका वह स्पर्श ऐसा था जैसे थके मन को अचानक सहारा मिल जाए। वह थोड़ा और करीब आ गई। उसकी साँसों की धीमी आवाज़ सुनाई दे रही थी, और मेरे मन में अनकही भावनाएँ उठने लगीं। पर हम दोनों ही जैसे अपनी सीमाओं से परिचित थे, शब्द कम थे, पर मन बहुत कुछ कह रहा था। वह इतने करीब आ गई कि उसकी साँसों की आहट तक साफ सुनाई देने लगी , जैसे शब्दों से ज्यादा ख़ामोशी बोल रही हो। उस क्षण में समय जैसे थम सा गया, आसपास की आवाज़ें धुँधली पड़ गईं और बस उसकी मौजूदगी ही रह गई। तभी वेटर आता दिखाई दिया। हम दोनों थोड़ा अलग हो गए, जैसे स्कूल के बच्चे पकड़ लिए

गए हों। मैं मुस्कुरा दिया, वो भी हल्का सा हँसी। फिर भी जो था, वह वहीं रहा — हवा में, हाथ की गर्मी में और उस क्षण में जो पूरा होकर भी अधूरा था। रविवार का दिन होने के कारण चारों ओर सन्नाटा पसरा हुआ था। वहाँ कोई नहीं था, सिर्फ़ हम थे और खाली कुर्सियाँ, जो शायद इंतज़ार में थीं कि कोई और आए, पर कोई आया नहीं। मैंने गिलास में लगी स्ट्रॉ को उठाकर एक ओर रख दिया। उसने आश्चर्य से पूछा, "यह क्यों रख दी?" मैं मुस्कराकर बोला, "अब बच्चे थोड़े ही हैं कि स्ट्रॉ से पीएँ।" मेरी बात सुनकर वह हँस पड़ी। उसकी हँसी में कोई बनावट नहीं थी, सीधी और साफ़, जैसे गाँव के कुएँ का पानी। बोली, "तुम भी अलग ही किस्म के इंसान हो… 95 नहीं, 85 born लगते हो। दिल के अच्छे हो, कोई दिखावा नहीं… बिल्कुल shaadi material हो।" मैं सोचने लगा कि आदमी का shaadi material होना क्या होता है। शायद जैसे कोई कपड़ा हो, जिसे पहनकर पूरा जीवन काटा जा सके। उसकी आँखें अब भी मुझ पर टिकी थीं। मुझे संकोच-सा हुआ। मैंने धीरे से पूछा, "क्या देख रही हो?" वह कुछ देर चुप रही, फिर धीमे स्वर में बोली, "तुम्हारी आँखें है तो सचमुच नशीली ही।" यह कहते हुए उसने हाथ छोड़कर मेरी बाजू कसकर पकड़ ली। इतना सहज, इतना अपनेपन से, जैसे ये उसके लिए बिल्कुल नैचुरल हो और अगले ही पल उसने गाल पर हल्का-सा किस कर दिया। वह किस बहुत हल्का था, जैसे किसी ने हवा में उँगली से एक बिंदु बना दिया हो। उस छोटे से स्पर्श के बाद भी सब वैसा ही रहा — सुबह, कुर्सियाँ, खालीपन — पर कुछ थोड़ा बदल गया था। शायद मेरे भीतर, शायद उसकी हँसी में या शायद उस रविवार में जो अब सिर्फ़ रविवार नहीं रहा था। उस क्षण मुझे लगा जैसे सुबह की वह शांति मेरे भीतर उतर आई हो। बाहर वही सन्नाटा था, वही धीमी धूप, पर मेरे मन में एक हलचल-सी उठ गई थी। प्रेम कभी-कभी बड़े सादे ढंग से आता है—बिना शोर, बिना घोषणा, बस एक सहज स्पर्श की तरह। मैं उसकी आँखों में देख रहा था। उसने आज भी पहले की तरह बस काजल

लगाया था — हल्का-सा, पर ऐसा कि आँखें और गहरी लग रही थीं। मैं कुछ पल चुप रहा, फिर मुस्कुराकर बोला, "तेरी आँखों को देखकर एक शायरी कहने का मन कर रहा है।" उसके होंठों पर मुस्कान आई और बोली, "इरशाद" । मैंने कहा —

क्या किस्सा सुनाऊँ, तुम्हारी इन क़यामत आँखों का
जो इन्हें देखते होंगे, वो तो इनमें डूब जाते होंगे
जिन्हें तैरना आता होगा, वो बच कर निकल आते होंगे
जो नौसिखिए होंगे, वो तो शायद मर जाते होंगे।

वो हँस पड़ी। उसकी हँसी में थोड़ी शर्म थी। "वाह पंडित जी, तुम तो शायर निकले" उसने छेड़ते हुए कहा। मैंने कंधे उचकाकर जवाब दिया, "मेरी ज़िंदगी का पहला शेर है ये, बस तुम्हारी आँखों को देखकर अपने-आप आ गया।" कुछ देर हम दोनों चुप रहे। हवा धीमी थी, मगर दिलों की धड़कनें जैसे तेज़ हो रही थीं। वक्त का पता ही नहीं चला — दो घंटे कब गुजर गए, मालूम ही नहीं पड़ा। ऐसा लग रहा था जैसे बातें नहीं, खामोशियाँ भी हमें और करीब ला रही हों। हम दोनों एक-दूसरे को देख रहे थे, जैसे शब्दों से आगे की कोई भाषा समझने की कोशिश कर रहे हों। उस पल में न कोई जल्दी थी, न कोई डर — बस एक एहसास था कि हम दोनों धीरे-धीरे एक-दूसरे में समाते जा रहे हैं, जैसे दो अलग रास्ते चुपचाप एक ही मंज़िल की तरफ मुड़ रहे हों। फिर रश्मि बोली, "अब चलना होगा मुझे, काफी देर हो गयी है। किसी ने देख लिया तो बेवजह क्लेश हो जाएगा।" उसने ऐसे कहा जैसे क्लेश कोई आदमी हो, जो अचानक सामने आ सकता है। उसके स्वर में संकोच था और उस संकोच में घर-समाज की परछाइयाँ साफ़ झलक रही थीं। मैंने धीरे से जेब से कंगन निकाले। बाजार से लाया था उसके लिए। रश्मि ने उन्हें देखा तो उसके चेहरे पर एक सरल-सी खुशी आ गयी। बोली, "अपने हाथों से पहना दो।" कहते-कहते वह मुस्कुरा दी, पर आँखें झुकी रहीं। मैंने धीरे-धीरे उसके हाथों में कंगन पहनाए। कंगन

खनके तो लगा जैसे उस पल की कोई छोटी-सी याद बन रही हो। वे साधारण-से कंगन थे, पर उस समय मुझे लगा जैसे कोई बहुत बड़ी दौलत उसे सौंप रहा हूँ। उसके हाथ काँप रहे थे, शायद मेरे भी। मैंने उसके हाथ थामे और होंठों से छू लिया। वह और भी सिमट गयी। उसकी आँखों में संकोच और अपनापन एक साथ था। बोलने को कुछ था भी नहीं। प्रेम में कई बार शब्द अनावश्यक हो जाते हैं। फिर मैंने उसकी आँखों पर हल्का-सा चुंबन रखा। आँखें बंद थीं या खुली, यह मुझे ठीक से याद नहीं। कुछ बातें याद नहीं रहतीं, पर उनका होना याद रहता है। तभी बाहर से किसी के आने की आहट हुई। जैसे कोई कठोर यथार्थ हमारे उस छोटे-से सुख को छूने चला आया हो। रश्मि ने जल्दी से दुपट्टा सँभाला, मेरी ओर देखा और धीमे कदमों से चल पड़ी। मैं वहीं रहा। उसके जाते ही मन में एक खालीपन उतर आया — वैसा खालीपन, जो प्रेम के बाद अक्सर मनुष्य को अपने हिस्से में मिलता है। उसके जाने के बाद भी कंगनों की हल्की खनक जैसे देर तक हवा में तैरती रही।

अब हाल ये हो गया था कि हमारी बातें फोन पर ही दिन-रात चलती रहतीं। न उसे वक़्त का ध्यान रहता, न मुझे। जैसे जीवन के बाकी सब काम पीछे छूट गये हों और बस एक-दूसरे की आवाज़ ही संसार बन गई हो। कभी पुरानी मुलाक़ातों को याद करते, कभी यूँ ही बीती बातों पर हँस लेते। बातों का कोई सिर-पैर नहीं होता, लेकिन उनमें अपनापन इतना था कि हर बात जरूरी लगती। मैं कभी-कभी कह देता, “अगर हम कॉलेज के दिनों में मिल गये होते तो कितना अच्छा होता।” वह धीमे स्वर में कहती, “अगर हमारे बीच ये सब कुछ दफ़्तर के दिनों में ही हो जाता, तो मैं जयपुर छोड़कर जाती ही नहीं।” रात गहराती जाती, आँखों में नींद उतर आती, मगर फोन यूँ ही चलता रहता। कभी मैं सो जाता, कभी वह, पर बातों की डोर टूटा नहीं करती। सुबह जो पहले जागता, वही चुपचाप फोन काट देता , जैसे किसी अपने को जगाना उचित न हो। यह सब कुछ इतना साधारण था कि उसमें कोई दिखावा नहीं था, पर वही

साधारणता हमें भीतर से बांधती जाती थी। धीरे-धीरे ऐसा प्रतीत होने लगा कि दिन की शुरुआत और रात का अंत अब घड़ी से नहीं, बल्कि एक-दूसरे की आवाज़ से तय होता है। जीवन अपनी पुरानी चाल से चल रहा था, लेकिन उसके भीतर एक नया सुख चुपचाप जन्म ले चुका था।

25 July

रात के बारह बज चुके थे। आज रश्मि का जन्मदिन था। जैसे ही मैंने उसे विश किया, वह हल्की हैरानी और मुस्कान के साथ बोली, “याद था तुम्हें?” मैंने मुस्कुराकर कहा, “और क्या, तुम्हारा जन्मदिन मैं कैसे भूल सकता हूँ।”

उसने थोड़ी देर चुप रहकर कहा, “तुम पहले इंसान हो जिसने मुझे ठीक इस वक्त, रात को, जन्मदिन की शुभकामनाएँ दी हैं। इससे पहले किसी ने भी ऐसा नहीं किया।” उसकी आवाज़ में एक अजीब-सी नरमी थी, जैसे इन शब्दों के पीछे कोई अनकही खुशी छुपी हो। उस रात बातों का सिलसिला कुछ देर और चलता रहा — छोटी-छोटी बातें, हल्की हँसी, और बीच-बीच में आने वाली खामोशियाँ, जो शब्दों से कहीं ज़्यादा कह रही थीं। थोड़ी देर बाद उसने कहा — “चलो अब सोते हैं।” मैंने कहा — “हां, सो जाओ,बर्थडे गर्ल। कल मुझे भी सुबह केस के सिलसिले में अदालत जाना है , दिन थोड़ा व्यस्त रहेगा।” कॉल खत्म हुई, लेकिन अजीब-सी खुशी रह गई। बातचीत खत्म हुई, पर मन में एक हल्की-सी रोशनी बची रही — जैसे किसी ने अँधेरी रात में चुपचाप एक दीया जला दिया हो।

अगले दिन शाम के चार बजे थे। मैंने फोन किया। उधर से धीमी आवाज़ आई, जैसे मन कहीं और अटका हो। मैंने कारण पूछा तो वह बोली — “यार बहुत याद आ रही है, काश हम पास होते।” उस आवाज़ में शिकायत भी थी, अपनापन भी, और थोड़ा सा अकेलापन भी। मैंने सहज ही कह दिया — “मैं आ जाता हूँ।” उसने हल्की सी थकान में जवाब दिया — “अब नहीं, तीन घंटे लग जाएंगे, जब घर आऊँगी तब मिल लेंगे।” फिर मैंने कहा “अगर मैं कहूँ कि मैं तुम्हारे अदालत के बाहर बैठा हूँ।” पहले तो उसने यकीन नहीं किया, बोली — “पहले ही मूड खराब है, मज़ाक मत करो।” लेकिन जब मैंने कहा कि सच में मज़ाक नहीं है तो उसके शब्दों में अचानक घबराहट और खुशी साथ आ

गई — "बता तो देते कि आ रहे हो... चलो, मैं बस दो मिनट में आती हूँ।" उस पल में दूरी जैसे सिमट गई। इंतज़ार, नाराज़गी, उदासी सब पीछे रह गया। सिर्फ़ एक एहसास बचा कि कोई बिना बताए सिर्फ़ तुम्हें देखने चला आया है। थोड़ी ही देर बाद वो बाहर आई — जल्दी-जल्दी कदम, चेहरे पर हैरानी और आँखों में चमक लिए। शायद कुछ कहना चाहती हो, मगर शब्द कम पड़ रहे हों। ऐसे पलों में बातें कम और मुस्कानें ज़्यादा बोलती हैं। वो धीरे से करीब आई और बोली, "चलो अब चलते हैं... मेरा बहुत जोर से हग करने का मन कर रहा है।" उस पल में न कोई हड़बड़ी थी, न झिझक — बस दो लोगों के बीच की वो सादगी भरी गर्माहट थी, जिसमें सारी बातें बिना बोले समझ आ जाती हैं।

मैंने पूछा — "कहाँ चलें?" वो हल्की-सी मुस्कान के साथ बोली — "पीजी ही चलते हैं... वैसे भी यहाँ मेरी रूममेट नहीं है और आंटी को बोल दूँगी कि ये मेरा दूर का भाई है।" मैं हँस पड़ा और कहने लगा — "कम से कम भाई तो मत बनाओ।" वो भी हँस दी, आँखों में शरारत उतर आई — "बोलने से भाई थोड़ी हो जाओगे, ये तो बस बहाना है।" उसका कहना सरल था, पर उस सरलता में आजकल के शहर की वही मजबूरियाँ छिपी थीं, जिनमें लोग अपनी छोटी-छोटी खुशियों के लिए बहाने ढूँढते फिरते हैं। समाज की आँखें बड़ी तेज होती हैं, जहाँ दो लोग साथ दिख जाएँ, वहाँ सवाल पहले खड़े हो जाते हैं, समझ बाद में आती है। हम धीरे-धीरे साथ चलने लगे। वो कभी बालों को कान के पीछे करती, कभी दुपट्टे को सँभालती और बीच-बीच में मेरी तरफ देखकर मुस्कुरा देती। उसकी उस मुस्कान में शरारत भी थी और एक अपनापन भी, जो बिना कहे बहुत कुछ कह जाता था। मैंने मज़ाक में कहा — "अच्छा, तो मैं दूर का भाई हूँ?" वो तुरंत बोली — ""दूर का, लेकिन इतना भी दूर नहीं।" और फिर खुद ही हँसने लगी। बस, वही लाइन थी जिसने दिल के किसी कोने में हल्की-सी दस्तक दी। मैंने कहा — "झूठ बोलना ठीक है क्या?" वो बोली —

"कभी-कभी सच को बचाने के लिए थोड़ा झूठ जरूरी होता है।" उसकी बात सुनकर मैं मुस्कुराया, मगर भीतर एक अजीब-सी गंभीरता उतर आई। सच क्या था? झूठ क्या था? शायद हम दोनों ही उन शब्दों के बीच कहीं खड़े थे — जहाँ रिश्ता नाम नहीं मांगता, बस थोड़ी-सी जगह चाहता है।

फिर हम पीजी पर पहुंचे। रश्मि ने दरवाज़ा बंद किया और मुझे गले लगा लिया। वह आलिंगन बहुत देर तक चलता रहा, जैसे समय को थोड़ी देर के लिए रोक लिया गया हो। जब वह अलग हुई तो उसकी आँखों में नमी थी। मैंने धीरे से पूछा —"क्या हुआ?" वह बोली —"मैं आज सुबह जयपुर की बस में बैठ गयी थी।" उसकी आवाज़ में शिकायत थी, पर उस शिकायत में अपनापन भी छिपा हुआ था। "आज का दिन तुम्हारे साथ बिताना था," उसने कहा, "मैं इंतज़ार करती रही पर तुमने फोन तक नहीं किया। मुझे गुस्सा आया। फिर बस से उतर गयी और अदालत चली गयी। सोचा अदालत चली जाती हूँ, कम से कम काम में मन लग जाएगा। पर दिल तो यहीं अटका था।" मैंने उसके आँसू पोंछते हुए धीरे से कहा — "गुस्सा भी था, और इंतज़ार भी?" वो हल्का-सा मुस्कुराई, मगर आँखों की नमी अभी भी बाकी थी। कुछ देर हम चुप रहे। चुप्पी में भी बातें थीं। उसकी आँखों की नमी अब कम हो रही थी, जैसे बारिश के बाद मिट्टी धीरे-धीरे सूखती है। मैंने कहा —"काम में उलझा रहा, समय ही नहीं मिला फोन करने का और कुछ मैं तुम्हें सरप्राइज़ देना चाहता था।" वो मुस्कराकर बोली, " तुम हमेशा सच में इतना ही प्यार करोगे मुझसे?" मैंने संकोच से कहा कि तुम्हें क्या लगता है? वो बोली, मुझे तो लगता है कि जो लड़का इतने साल किसी ऐसी लड़की से जो उसे ठीक से जानती भी नही उसे एकतरफा प्यार कर सकता है वो दोतरफ़ा प्यार तो कितनी शिद्दत से करेगा! मैं मुस्कुरा दिया। फिर जो केक मैं साथ लाया था, उसे उठाकर धीरे से मेज़ पर रख दिया। रश्मि ने केक खोला, नज़र पड़ते ही उसके होंठों पर एक हल्की सी मुस्कान आकर ठिठक गई। उस पर लिखा था — "Happy Birthday

Baby**".** वो मुस्कुराकर बोली, "ये baby उस baby वाले की रीस में लिखा है ना?" मैं हल्का सा मुस्कुराया और कहा, "लिखा तो उसी baby वाले की रीस में ही है, लेकिन सच कहूँ, मुझे तो बस तेरी ये मुस्कान देखनी थी। फिर हमने केक काटा और थोड़ी देर ऐसे ही बैठे रहे।

रश्मि ने टीवी चला दिया और बोली, "बस दस मिनट में आई" और रसोई की तरफ़ चली गई। उसके कदमों की आहट भी जैसे किसी अनकहे संवाद का हिस्सा थी। दस मिनट बाद वह चाय और टोस्ट लेकर लौटी। कप से उठती भाप उसके चेहरे पर पड़ रही थी। मैंने मुस्कराकर कहा, "ये कौन-सा चाय पीने का वक़्त है? दफ़्तर में भी तुम पाँच कप तो पी जाती होगी। तुम्हारा ब्लड ग्रुप भी टी-पॉज़िटिव होगा शायद। इतनी चाय मत पिया करो, रंग काला हो जाता है।"

फिर वह आँखों में हल्की शरारत लिये बोली, "अच्छा, तो दफ़्तर में बैठे मेरे चाय के कप गिनते थे और कहते थे कि देखते भी नहीं थे ध्यान से।" उसकी बात जैसे धीरे से आकर मेरे पास बैठ गई। मैंने सोचा — कोई किसी को देखता है या नहीं, यह देखने वाला भी हमेशा नहीं जानता। मैं थोड़ा पकड़ा गया सा मुस्कुरा दिया। सच तो ये था कि जो हमें अच्छा लगता है उनकी छोटी-छोटी बातें याद रखने लगते हैं — कौन कितनी चाय पीता है, हँसते वक्त आँखें कितनी सिकुड़ती हैं और चुप होने पर उँगलियाँ कैसे कप के किनारे चलती हैं। रश्मि ने टोस्ट मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए कहा, "लो, खाओ।" रश्मि ने हल्की-सी मुस्कान के साथ कहा, "अब कोई फ़र्क नहीं पड़ता , चाहे चाय पीते-पीते मैं काली ही क्यों न हो जाऊ, तुम हो न मुझे झेलने के लिए।" उसकी आवाज़ में शरारत भी थी और एक अजीब-सा भरोसा भी। मैंने कहा, "देखो रश्मि, एक बात सच है — शुरू में प्यार सूरत देखकर ही होता है, सीरत तो बाद में देखी जाती है। ये कहना कि शक्ल से कोई मतलब नहीं होता, शायद आधा सच है। लेकिन असली बात ये है कि एक बार दिल लग जाए, तो फिर रंग-रूप की

अहमियत खुद-ब-खुद कम हो जाती है। उसके बाद इंसान उसी को प्यार करता है — चाहे वक़्त बदल जाए, चेहरे बदल जाएँ या दुनिया बदल जाए।" वो मेरी बात सुनकर कुछ पल चुप रही, जैसे शब्दों को अपने अंदर उतार रही हो। सामने चाय की भाप अब धीमी पड़ चुकी थी। मैंने आधा कप पीकर उसे साइड कर दिया था। उसने पहले अपना कप खत्म किया, फिर बिना कुछ कहे मेरा आधा बचा हुआ कप भी उठा लिया और धीरे-धीरे पूरा पी गयी। उस छोटे-से पल में न जाने क्या था — जैसे दो लोगों के बीच की दूरी चाय की उस आख़िरी घूंट में घुल गयी हो। मुझे लगा, प्यार शायद बड़े इज़हारों में नहीं, बल्कि ऐसे ही छोटे-छोटे बेपरवाह पलों में बसता है, जहाँ कोई तुम्हारा अधूरा छोड़ दिया हुआ कप भी अपनी मर्ज़ी से पूरा कर देता है। वो धीरे-से मेरी गोद में सिर रखकर लेट गई। पल जैसे ठहर से गए थे। तभी अचानक उसके घर से फोन आ गया। उसने तुरंत अपने होंठों पर उँगली रखकर मुझे चुप रहने का इशारा किया। मैं मुस्कुराया और उसके हाथ पर हल्का-सा चुंबन रख दिया। उसने आँखें तरेरीं, हाथ छुड़ाया और कोहनी से हल्का सा धक्का देते हुए इशारे में कहा — अभी बात कर लेने दो, छेड़ोगे तो उठकर चली जाऊँगी। मैंने हँसते हुए हाथ पीछे खींच लिया और चुपचाप उसे देखने लगा। वो घरवालों से बात कर रही थी, मगर उसकी आँखों के कोनों में एक धीमी मुस्कान खेल रही थी — जैसे बातचीत कहीं और हो, पर ध्यान मुझ पर अटका हो। कुछ पल बाद उसने बिना कुछ कहे मेरा हाथ पकड़ा और अपने ऊपर रख लिया। फोन पर बात चलती रही, पर उस स्पर्श में एक भरोसा था, एक अपनापन , जैसे शब्द घरवालों के लिए थे और खामोशी सिर्फ हमारे लिए। कुछ 20 मिनट बाद फोन कटा। मैंने हल्की मुस्कान के साथ पूछा, "अच्छा, तुम्हारे पिताजी क्या करते हैं?" वो थोड़ा सहज होकर बोली, "यही जयपुर अदालत में वकालत करते हैं। हमारी फर्म का नाम प्रताप एंड संस है। दादाजी भी शहर के जाने-माने वकील थे।" उसके चेहरे पर एक हल्का-सा गर्व था, लेकिन आवाज़ में बनावट ज़रा भी

नहीं। जैसे ये सब उसके लिए कोई दिखाने की चीज़ नहीं, बस जीवन का स्वाभाविक हिस्सा हो। उसने आगे कहा, “पहले पिताजी जयपुर डिस्ट्रिक्ट बार काउंसिल के अध्यक्ष थे, अब मेरा कज़िन है। पिताजी इस समय स्टेट बार काउंसिल के अध्यक्ष हैं।” वो थोड़ी देर चुप रही, फिर धीमे से बोली, “वैसे अगर मैं चाहती तो वहीं प्रैक्टिस कर सकती थी, रास्ता खुला था मेरे लिए भी। लेकिन वो चीज़ व्यवहारिक नहीं होती। शादी के बाद तो कहीं और जाना ही पड़ता है और शादी के बाद मायके में रहना भी ठीक नहीं लगता।” उसने जैसे अपने ही विचारों को शब्द दिए हों। आवाज़ में हल्की-सी गंभीरता उतर आई थी। “इसलिए अब छोटा भाई लॉ करेगा” उसने मुस्कुराकर कहा, “और हमारी legacy वही संभालेगा।”

फिर उसके बाद मैंने उसे अपने बैग की तरफ इशारा किया और लाने को कहा। उसने सवाल भरी नज़र से मुझे देखा, मगर बिना कुछ बोले बैग उठा लाई। मैंने धीरे से उसमें से एक छोटा सा डिब्बा निकाला और उसकी तरफ बढ़ा दिया। उसने संकोच से डिब्बा खोला—अंदर चाँदी की पाजेब थी, हल्की रोशनी में चमकती हुई। एक पल के लिए उसकी आँखों में अचरज तैरा, फिर उसने बिना कुछ कहे वह पाजेब मुझे वापस थमा दी। मैं उसके मौन को पढ़ सकता था। शब्द हमारे बीच अक्सर अनावश्यक हो जाते थे। मैं सोफे से उतरकर उसके सामने बैठ गया। उसके पैर अपनी गोद में लेते हुए एक अजीब-सी श्रद्धा मन में थी—जैसे कोई साधारण स्पर्श भी जीवन के अर्थ बदल देता हो। पाजेब की ठंडी धातु उसकी त्वचा से लगी, और उस पल में एक हल्की-सी छनक उठी, जो कमरे से ज़्यादा मेरे भीतर सुनाई दी। मैं फिर सोफे पर आ बैठा। उसने पाजेब को देखा, फिर मेरी तरफ—उसकी मुस्कान में संकोच भी था और भविष्य की धुंधली-सी रेखा भी। “इतनी भारी क्यों लेकर आए?” वह बोली, “एक कुंवारी लड़की इतनी भारी पाजेब नहीं पहनती, चलो, शादी के बाद पहन लूँगी।” उसके शब्द जैसे हवा में देर तक तैरते रहे। मेरे भीतर अचानक एक अजीब-सी

खामोशी उतर आई—मानो समय ने अभी-अभी भविष्य का एक दरवाज़ा खोलकर फिर धीरे से बंद कर दिया हो। प्रेम कभी-कभी घोषणा नहीं करता, बस ऐसे ही किसी सहज क्षण में अपनी उपस्थिति दर्ज करा देता है—जब दो लोग चुपचाप बैठे हों और उनके बीच एक पाजेब की धीमी छनक, आने वाले कल का संकेत बन जाए। वो मेरी बाजू पर सिर रखे चुपचाप बैठी रही। कमरे में सिर्फ़ हल्की-सी खामोशी थी, और टीवी बिना आवाज़ के जैसे बस औपचारिकता निभा रहा था। उसने रिमोट उठाया और स्क्रीन भी बंद कर दी, मानो बाहरी दुनिया से रिश्ता ही तोड़ दिया हो। फिर धीमे से बोली— "यार, घर वाले शादी के लिए मान भी जाएंगे या नहीं? तुम्हारे तो यही कहेंगे ना कि लड़की तुमसे दो साल बड़ी है" मैंने मुस्कुराकर कहा, "मैं बोल दूँगा कि दो साल बाद शादी कर लूँगा।" मेरी बात सुनकर उसकी हँसी कमरे में हल्के झोंके की तरह फैल गयी। उस हँसी में थोड़ी शरारत थी, थोड़ी राहत और थोड़ी-सी चिंता भी, जो जाने का नाम नहीं ले रही थी। कुछ देर बाद वो फिर से मेरी गोद में लेट गयी। उसके बाल चेहरे पर आ रहे थे, जिन्हें मैं उंगलियों से धीरे-धीरे हटाता रहा। बाहर शायद रात गहरी हो रही थी, मगर उस पल में समय जैसे ठहर गया था। उसकी सांसों की रफ़्तार धीमी होती गयी और थोड़ी ही देर में वो सो गयी। उस सोए हुए चेहरे पर एक अजीब-सी मासूमियत थी—जैसे दुनिया की सारी जटिलताएँ बाहर दरवाज़े पर छूट गई हों। मैं उसे देखता रहा और सोचता रहा—जीवन कितना अजीब है। समाज की रीतियाँ, घर वालों की इच्छाएँ, उम्र के हिसाब-किताब, सब अपनी जगह हैं, लेकिन मन का स्नेह इन सब तर्कों से परे होता है। वह न किसी प्रमाण की माँग करता है, न किसी अनुमति की। बस चुपचाप अपना स्थान बना लेता है, जैसे कोई दीपक अँधेरे कमरे में बिना शोर किए उजाला कर दे। मैं रश्मि की शादी की बात पर सोचने लगा तो जैसे मन पर एक भारी बोझ आ बैठा। सामने अचानक विष्णु का वही उदास और लाचार चेहरा उभर आया। उसकी आँखों में जो बेबसी थी, वह

अब मुझे अपने ही भविष्य की तस्वीर लगने लगी। सोचता था — यदि मेरे साथ भी ऐसा हुआ, यदि रश्मि मुझसे दूर चली गई, तो मैं कैसे जी पाऊँगा? मन बार-बार यही कहता कि उसके बिना तो जीवन सूना हो जाएगा। मनुष्य का हृदय बड़ा विचित्र होता है। जब तक सुख सामने रहता है, वह उसके मूल्य को नहीं समझता, पर ज्यों ही उसके छिन जाने की आशंका होती है, वह भीतर से काँप उठता है। मैं भी उसी भय में डूबा बैठा था। विष्णु को देखता तो लगता, वह शराब के सहारे अपने दुःख को कुछ देर भुला लेता है। पर मुझमें वह भी सामर्थ्य न थी।

उस रात मुझे लगा कि प्रेम आदमी को जितना सुख देता है, उससे कहीं अधिक उसे असहाय भी बना देता है। मन भय और मोह के बीच झूलता रहा। बाहर सब कुछ शांत था, पर भीतर जैसे आँधी चल रही थी। मैं सोचता रहा — क्या मनुष्य का जीवन सचमुच इतना पराधीन है कि किसी एक व्यक्ति के बिना सब कुछ व्यर्थ लगने लगे? या यह केवल मेरे मन का भ्रम है, जो मुझे दुर्बल बना रहा है और मैं देर तक इसी उलझन में बैठा रहा, जैसे कोई राहगीर दो रास्तों के बीच खड़ा हो और समझ न पाए कि किस ओर जाए। यही सोचते-सोचते मैं दो घंटे तक लगातार रश्मि को एकटक देखता रहा। उसे देखते हुए भीतर एक अजीब-सा सुकून उतरता जा रहा था। उसका चेहरा इतना शांत था मानो बहती हुई नदी अचानक ठहर गई हो और मैं उसके किनारे बैठा बिना कुछ कहे बस उसे निहारता रह गया। समय जैसे धीरे-धीरे अपनी चाल भूलता जा रहा था— ना कोई जल्दी, ना कोई शोर, बस एक ख़ामोश ठहराव जिसमें मेरी सारी बेचैनियाँ घुलती चली गईं। रश्मि के बिछड़ जाने की कल्पना से ही मेरी आँखें भर आईं। मैंने बड़ी कठिनाई से अपने आप को संभाला, कहीं वह जाग न जाए और मेरे मन की हालत पढ़ न ले। धीरे-धीरे मुझे भी नींद आने लगी थी कि तभी उसकी आँखें खुल गईं। उसने सहज स्वर में पूछा, “मुझे उठाया क्यों नहीं?” मैंने नज़रें फेर लीं। मन में डर था कि मेरी लाल आँखें सब सच बयान न कर दें।

मगर औरत का स्नेह बहुत जल्दी पहचान लेता है। उसने गौर से देखते हुए पूछा, “तुम रोए थे क्या?” मैंने बात टालने की कोशिश की, “नहीं तो, तुम्हें तो पता है, मेरी आँखें ऐसी ही रहती हैं।” वह चुपचाप मेरा हाथ पकड़कर अपने सिर पर रख दिया और बोली, “मेरी कसम खाओ।” यह सुनते ही मेरा गला भर आया। शब्द जैसे भीतर ही अटक गए। मैं कुछ न बोल सका और उसे कसकर गले लगा लिया। दो पल ऐसे ही बीत गए। मेरे आँसू चुपचाप उसके कंधे पर गिरते रहे। जब उसे यह अहसास हुआ, उसने मुझे धीरे से अलग किया। उसकी अपनी आँखें भी भीग चुकी थीं। वह बोली, “यार, बात तो बताओ ऐसे क्यों कर रहे हो? आज मेरा जन्मदिन है, आज के दिन भी रुलाओगे मुझे?” मैंने हिम्मत जुटाकर अपने मन का सारा डर कह दिया। वह सुनती रही, फिर मेरे आँसू पोंछते हुए बोली, “पागल हो तुम, मैं कहीं नहीं जाने वाली। अगर घर वाले न भी माने तो भी किसी और की नहीं बनूँगी।” मुझे अपनी गोद में सिर रखकर लिटा लिया। उसकी उँगलियाँ मेरे बालों में धीरे-धीरे चलती रहीं। दस मिनट में मेरे आँसू थम गए। वह उठकर खड़ी हुई और नींद से भरी आवाज़ में बोली, “चलो, अब सो जाते हैं।” मैंने संकोच से कहा, “मैं यहीं सोफे पर सो जाऊँगा।” वह हँस दी, जैसे किसी बच्चे की बात सुन ली हो। “पागल हो क्या? कमरे में चलो।” मैं उसके पीछे-पीछे कमरे तक तो चला आया, पर मन में झिझक वैसी ही बनी रही। मैंने धीमे से कहा, “तुम बिस्तर पर लेट जाओ, मैं नीचे ही लेट जाऊँगा।” उसने मेरी ओर देखा। उस नज़र में न शरारत थी, न उलाहना—बस एक सादा-सा विश्वास था। बोली, “मुझे पहली नज़र में ही समझ आ गया था कि तुम कैसे लड़के हो। मेरी मर्ज़ी के बिना मुझे तो क्या, मेरी उँगली का नाखून भी नहीं छुओगे तुम। बाकी बातें तो बहुत दूर की हैं।” इतना कहकर वह कुछ पल चुप रही, फिर मुस्कराकर बोली, “याद है, एक दिन दफ़्तर में मेरा हाथ तुमसे छू गया था, तो तुमने झट से हाथ हटा लिया था।” मैंने नज़रें झुका लीं। सच तो यह था कि उस दिन की याद आज भी मन में साफ़ थी।

मुझे लगता था, औरत की इज़्ज़त सिर्फ़ शब्दों से नहीं, व्यवहार से होती है। वह बिस्तर पर बैठ गई और धीमे स्वर में बोली, "हर लड़का ऐसा नहीं होता। इसलिए तुम्हारे साथ रहकर डर नहीं लगता।" कमरे में सन्नाटा था। बाहर रात अपने पूरे विस्तार के साथ फैली हुई थी। मैं नीचे बैठने ही जा रहा था कि उसने धीरे से कहा, "इतना फ़ासला भी ठीक नहीं होता, भरोसा भी कोई चीज़ होती है।" उसकी आवाज़ में एक सहजता थी। मैंने बिस्तर के किनारे जगह बना ली, मगर मन में एक मर्यादा की रेखा साफ़ खिंची रही। उस रात कोई बड़ी बात नहीं हुई—बस दो लोगों के बीच विश्वास थोड़ा और गहरा हो गया। नींद आने से पहले मैंने सोचा, प्रेम शायद वही है जहाँ चाहत से ज़्यादा सम्मान हो और पास होने से ज़्यादा किसी को सुरक्षित महसूस कराना ज़रूरी लगे। "दो लोग एक ही कमरे में सो जाएँ तो इसका मतलब हमेशा वही नहीं होता जो लोग सोचते हैं," उसने धीमे से कहा। "कभी-कभी बस इतना होता है कि किसी की मौजूदगी से नींद आसान हो जाती है।" कमरे में कुछ देर खामोशी रही। बाहर कहीं दूर से कुत्ते के भौंकने की आवाज़ आई और फिर सब शांत हो गया। वो लेट गई और धीरे से बोली, "अब सो जाओ, ज़्यादा सोचोगे तो रात निकल जाएगी।" मैंने लाइट धीमी की और दूरी बनाकर लेट गया। उस पल में कोई बेचैनी नहीं थी — सिर्फ़ एक अजीब-सी शांति। जैसे दो लोग अपने-अपने डर और विश्वास के बीच एक नई जगह बना रहे हों, जहाँ शब्द कम और समझ ज़्यादा थी। मैंने उससे कहा था कि मुझे सुबह जल्दी निकलना है, इसलिए जगा देना। अलार्म भी पाँच बजे का लगा दिया था। रात की थकान ऐसी थी कि कब नींद आ गई, पता ही न चला। अलार्म की आवाज़ से आँख खुली तो देखा—बिस्तर के दूसरे हिस्से पर सन्नाटा था। रश्मि वहाँ नहीं थी। मैं उठकर बाहर आया तो रसोई में हल्की-सी रोशनी जल रही थी। वह चुपचाप खाना बना रही थी। सुबह की ठंडी हवा में उसके धोए हुए बालों से पानी की बूंदें अब भी टपक रही थीं। मैं धीरे से पीछे जाकर खड़ा हुआ और उसे बाँहों में भर लिया। उसके गीले बाल

मेरे गाल से छुए तो जैसे नींद का आख़िरी सिरा भी टूट गया। मैंने कहा, “इतनी सुबह-सुबह खाना क्यों बना रही हो? मैं दफ़्तर जाकर खा लेता।” वह बिना मेरी ओर देखे मुस्कुराई और बोली, “अब सुबह भी बाहर का खाओगे और दोपहर को भी? रात को भी खाना नहीं खाया था। जाओ, पहले नहा लो, तब तक मैं खाना लगा देती हूँ।” उसकी आवाज़ में न कोई बनावट थी, न शिकायत—बस सीधी-सी चिंता, जैसी घर सँभालने वाली औरतों में होती है। मैं नहा कर लौटा तो उसने थाली लगा दी थी और वह चुपचाप मेरे पास आकर बैठ गई। “मैंने पूछा, ‘तुम अपनी थाली नहीं लाई?’

वह हल्की मुस्कान के साथ बोली, ‘नहीं, मैं तो ज़रा देर से खाऊँगी।’ मुझे लगा मानो खाने से ज़्यादा उसे मेरे साथ बैठे रहने में ज़्यादा सुख मिल रहा है। चूँकि मुझे भी दस बजे तक अदालत पहुँचना था, इसलिए मैंने जल्दी-जल्दी खाना खाया और रश्मि से विदा ली। मैं रश्मि की तरफ पीठ किए बिना, जैसे मंदिर से बाहर निकलते समय लोग देवता की ओर मुख करके चलते हैं, वैसे ही दरवाज़े की तरफ बढ़ रहा था।

दरवाज़े तक पहुँचा तो बिना मुड़े ही पीछे हाथ ले जाकर उसे खोलने लगा। तभी रश्मि ने मुझे रोक लिया।

उसने दरवाज़ा फिर से बंद कर दिया और आकर मेरे सामने खड़ी हो गई। धीरे से बोली — “ऐसे मेरी तरफ मुँह करके क्यों चल रहे थे?” मैं हल्का सा मुस्कुराया और कहा —“मोहब्बत को कभी पीठ नहीं दिखाते।” मेरी बात सुनते ही उसने चुपचाप अपने हाथ मेरे गले में डाल दिए और मेरे माथे को चूम लिया। फिर वो बस यूँ ही खड़ी मुझे देखती रही — जैसे इस पल को अपनी आँखों में हमेशा के लिए कैद कर लेना चाहती हो। मैं कुछ कहने ही वाला था कि उसने अपनी उँगली मेरे होंठों पर रख दी और बोली — “रुक जाओ ना… थोड़ी देर और।” हम दोनों करीब दस मिनट तक यूँ ही खामोश खड़े रहे —

बिना शब्दों के, पर सब कुछ कह चुके थे। फिर मैंने उसके माथे को धीरे से चूमा और इस बार सचमुच चला गया।

आज विष्णु का भी जयपुर में आख़िरी दिन था। वह कल हमेशा के लिए अजमेर जा रहा था। मैं भी अपने दफ़्तर में एक महीने के नोटिस पीरियड पर चल रहा था। अगले महीने यहाँ त्रिवेदी जी को जॉइन करना था, इसलिए अब दफ़्तर जाना मुझे बोझ-सा लगने लगा था और मैं अगले महीने का इंतज़ार करने लगा था। शाम को दफ़्तर से लौटकर मैं कमरे पर आ गया। विष्णु के साथ मेरा वह आख़िरी दिन था। उसने कहा, "आखिरी बार इस कमरे पर पी लेता हुँ भाई, ले आ भाई वो बची हुई आधी बोतल।"

वैसे विष्णु कल से हमेशा के लिए घर जा रहा था। वहाँ जाकर तो उसके पीने का सवाल ही नहीं था। मन में अजीब-सी मिलीजुली भावना थी—एक तरफ उसके जाने का ग़म, दूसरी तरफ यह संतोष कि चलो, अब उसकी ये आदत शायद छूट जाएगी। मैं बोतल उठा लाया और एक की जगह दो गिलास रख दिए।

मैंने मुस्कुराकर कहा, "आज एक मेरा भी बना दे।" वो हँस पड़ा, "भाई, तुमसे नहीं पी जाएगी।" मैं बोला, "कोई बात नहीं, नहीं पी गई तो फेंक दूँगा।" उसने पैग बनाया। मैंने गिलास उठाकर जैसे ही घूँट भरा, बस एक चौथाई ही उतर पाया था कि लगा जैसे तेज़ाब पी लिया हो—गला चीरता हुआ वो घूँट सीधा छाती में कहीं अटक गया। मैंने तुरंत गिलास रख दिया और हड़बड़ाकर आधी बोतल पानी गटक गया। तब जाकर थोड़ा चैन पड़ा। मैंने हाँफते हुए पूछा, "यार, कैसे पी लेते हो तुम और वो भी इतनी?" विष्णु मुस्कुराया और बोला, "भाई, आदत पड़ जाती है और सच तो ये है कि तुम शराब को नहीं पीते, शराब तुम्हें पी जाती है।" हम यूँ ही इधर-उधर की बातें करते रहे। मैंने कहा, "विष्णु भाई, तेरी याद आएगी, अकेले नहीं रहा जाएगा।" वो मुस्कुराकर बोला, "कोई बात

नहीं, कभी मैं आ जाया करूँगा, कभी तुम अजमेर आ जाना। और हाँ, साथ में अपनी रश्मि मैडम से भी मिल लेना।"

मैंने धीरे से कहा, "यार, सच पूछो तो अब उसके बिना एक पल भी गवारा नहीं। समझ नहीं आता कि घर पर कैसे बात करूँ और वो अपने घर पर कैसे करेगी।" विष्णु ने गंभीर होकर कहा, "भाई, करनी तो पड़ेगी। अभी कर लोगे तो ठीक रहेगा, नहीं तो बाद में बहुत दुख होगा।"

हम दोनों ने मन ही मन ठान लिया था—शादी करेंगे तो एक-दूसरे से ही, नहीं तो सारी उम्र कुँवारे रह लेंगे। मैंने फिर कहा, "भाई, जब उसकी गोद में लेटता हूँ ना तो सारी दुनिया भूल जाता हूँ। फिर कुछ भी याद नहीं रहता। उसके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकता। अगले महीने मेरा जन्मदिन है और सोच रहा हूँ पहले दीदी को ही बता दूँ। बचपन से वही मेरी जिद पूरी करती आई है। जब भी कोई बात होती थी, वह पहले माँ को बताती, फिर माँ उसे अपने ढंग से पिताजी तक पहुँचाती थीं। तब जाकर वह बात पूरी होती थी। कभी-कभी भाई भी उसे आगे बढ़ा देता था। चूँकि मैं घर में सबसे छोटा हूँ और सबका प्यारा भी, इसलिए मेरी लगभग सारी जिदें पूरी हो जाती हैं। मेरे पिताजी स्कूल में हेडमास्टर हैं। स्वभाव से भी सख्त हैं—शायद स्कूल में बच्चों को डाँटते-डाँटते ऐसे हो गए हों। फिर हमने रोटी खाई और सो गए।

सुबह विष्णु जल्दी चला गया। उसने मुझे काम के बारे में समझा दिया और कहा कि एक अगस्त से त्रिवेदी जी के पास चले जाना। वैसे त्रिवेदी जी भी अब लगभग रिटायर जैसे ही हैं। उनका एक ही बेटा है, लंदन में डॉक्टर है। मेरा भाई भी उसी के साथ है। मेरे भाई से ही तो मुझे यहाँ का पता मिला था। हमारी वहाँ भी और यहाँ भी घर जैसी ही बात है। त्रिवेदी जी अब ज़्यादातर सामाजिक कार्यों में लगे रहते हैं। आधा साल तो अपने बेटे के पास लंदन चले जाते हैं। वे क्लाइंट्स से फोन पर ही बात कर लेते थे, बाकी यहाँ का काम मैं संभाल लेता

था। वहाँ साथ में एक लड़की भी है, जो टाइपिंग वगैरह का काम देखती है और मेरे साथ अदालत भी जाती है। "चलो ठीक है, अब चलता हूँ, तुम अपना ख्याल रखना।" इतना कहकर वह चला गया।

आज मेरा दफ़्तर जाने का मन नहीं था, फिर भी बेमन से चला गया। शाम को लौटकर रश्मि से बात की और उसे आगे की जॉब के बारे में सब कुछ बता दिया। वह बोली—ठीक है, यह भी सही रहेगा। फ़िर वो पूछने लगी की तुम्हें जूता कितने साइज का आता है। मैंने कहा क्यों पूछ रही हो ? वो बोली बस वैसे ही। मैंने कहाँ सच सच बताओ। वो बोली कि कुछ नहीं मैं ऑर्डर कर रही थी। मैंने कहा कोई जरूरत नहीं है, वैसे भी मैं उसे डालूँगा नहीं ऐसे ही रखा रहेगा। वो बोली ऐसा क्यों। मैंने कहा कि तुम्हारी दी हुई चीज मैं पैरों में कैसे डाल सकता हुँ। वो हँसने लगी और कहने लगी यार बिल्कुल बच्चों जैसी बाते करते हो तुम भी। पैरो में डालने वाली चीज़ पैरो में ही डालोगे और टेबल पर सजा के रखोगे। फिर वो कहने लगी, "चलो, अपनी शर्ट का नंबर बताओ, मैंने Amazon खोल रखा है, कुछ न कुछ तो ऑर्डर करूँगी ही।" मैंने मुस्कराकर कहा, "अपने लिए शॉल ऑर्डर कर लो, सर्दियाँ आने वाली हैं, फिर सर्दियों के बाद मुझे दे देना, मैं रख लूँगा उसे।" वो हँसकर बोली, "तुम उसका क्या करोगे?" मैंने कहा, "कुछ नहीं, बस मैं ओढ़ लिया करूँगा उसे।" वो शरारत से बोली, "लड़कियों वाली शॉल ओढ़े हुए अजीब नहीं लगोगे? "

मैंने कहा, "तुम दे देना, मैं ओढ़ लूँगा, चाहे जैसा भी लगूँ।" वो मुस्कुराई और बोली — "यार, तुम इतने रोमांटिक हो, सच कहूँ, तुम्हें देखकर तो ऐसा बिल्कुल नहीं लगता।" फिर हम कुछ देर तक यूँ ही बातें करते रहे और कब नींद ने हमें अपनी आगोश में ले लिया, पता ही नहीं चला।

14 अगस्त

आज सुबह पाँच बजे रश्मि का फोन आया। जैसे ही मैंने फोन उठाया, उधर से आवाज आई — "हैप्पी बर्थडे, आलोक!" मैंने मुस्कुराकर "थैंक्यू" कहा। वो बोली, "सॉरी यार, मुझे याद तो था। रात को बारह बजे का अलार्म लगाकर सो गई थी, लेकिन फोन तकिए के नीचे दबा रह गया और पता ही नहीं चला। अभी आँख खुली तो देखा।" मैंने हँसकर कहा, "वैसे ठीक ही हुआ। अगर बारह बजे विश करती तो थोड़ा जल्दी हो जाता। मेरा जन्म तो आज के दिन सुबह 4:55 पर हुआ था, मतलब अभी तो मेरे जन्म को सिर्फ पाँच मिनट ही हुए हैं।" वो खिलखिलाकर हँस पड़ी — "सच में?" मैंने कहा, "तेरी कसम, झूठ थोड़ी बोलूँगा।" वो बोली, "वाह यार, ये तो कमाल हो गया। अब से मैं 4:55 पर ही फोन किया करूँगी और 'हैप्पी बर्थडे' की जगह पूछूँगी, पहुँच गए क्या आप सही-सलामत?" उसकी बात सुनकर मैं भी हँस पड़ा। फिर हम करीब एक घंटे तक यूँ ही बातें करते रहे। मैंने कहा कि आज मैं दोपहर को घर जाऊँगा, मेरी दीदी आई हुई हैं, फिर 2–3 दिन बाद ही लौटूँगा। वो बोली, 'ठीक है, बाय।' फिर फोन कट गया। फिर मैं नहाया, खाना खाया और थोड़ी देर लैपटॉप खोलकर बैठ गया। फिर करीब 10 बजे रश्मि का फोन आया। उसने कहा, "आधे घंटे में बस स्टैंड वाले कैफे पर आ जाना।" मैंने पूछा, "मतलब?" वो हँसकर बोली, "मतलब क्या, मैं आ रही हूँ।" मैंने कहा, "इतनी सुबह-सुबह क्यों आई?" उसने कहा, "तुम्हें घर जाना था न इसलिए।" मैंने कहा, "अगर तुम्हें आना ही था तो थोड़ा लेट आ जाती, मैं भी घर देर से चला जाता।" वो बोली, "अरे, मैं तो शाम को ही जयपुर आ गई थी। अब घर पर हूँ। तुम्हें सरप्राइज़ देना चाहती थी, इसलिए कल नहीं बताया।" फिर मैं आधे घंटे में कैफे पहुँच गया। रश्मि वहीं बैठी हुई थी, उसी जगह जहाँ हम पहले भी बैठते थे। उसके सामने केक रखा था। केक पर लिखा था — "हैप्पी बर्थडे आलोक

जी।" मेरे नाम के साथ लगा वह "जी" जैसे किसी मीठी शरारत की तरह मुस्कुरा रहा था। वैसे एक बात तो है — प्यार में इंसान पहले आप से तुम हो जाता है, फिर तुम से तू। पर कभी-कभी जब सामने वाला अचानक फिर से आप कह देता है तो आप से तुम और तुम से तू तक का पूरा सफर एक पल में याद आ जाता है। फिर वह उठी और मुझे गले लगा लिया और हल्के से मेरे गालों पर चूम लिया। उसके बाद हम दोनों ने बैठकर केक काटा। करीब आधा घंटा यूँ ही बैठे-बैठे बातें करते रहे। उसने चुपचाप एक डिब्बा मेरे हाथ में थमा दिया और मुस्कुराकर बोली कि इसे घर जाकर खोलना।

मैंने पूछा, "घर क्या कहकर आई थी?" वह बोली, "बस यही कि कुछ ओरिजिनल डॉक्यूमेंट आज ही चाहिए थे।" मैंने पूछा, "अब वापस घर जाओगी?" वह बोली, "नहीं, अब सीधे अजमेर जाऊँगी।" मैंने कहा, "चलो फिर कोई फिल्म देख लेते हैं। मैं भी घर थोड़ा देर से चला जाऊँगा।" वह मुस्कुराकर बोली, "चलो ठीक है, कौन-सी मूवी देखने चलें?" मैंने कहा, "नवाज़ुद्दीन साहब की एक फिल्म लगी है, वही देखते हैं।" वह बोली, "रुको, मैं अभी बुक करती हूँ।" थोड़ी देर में हम थिएटर पहुँच गए। काउंटर पर मैंने उसका फोन लेकर कोड दिखाया। काउंटर वाले ने पूछा, "रश्मि के नाम से है?" मैंने कहा, "हाँ।" तभी पास खड़े एक लड़के ने मुस्कुराकर पूछा, "आपका नाम रश्मि है?" मैं हँसते हुए बोला, "कभी दाढ़ी वाली रश्मि देखी है आज तक?" पीछे खड़ी रश्मि ज़ोर से हँस पड़ी और वह लड़का थोड़ा संकोच में चुप हो गया। हम दोनों अंदर जाकर अपनी सीट पर बैठ गए। रश्मि धीरे से बोली, "यार, तुम भी ना, किसी से भी कुछ भी बोल देते हो। वो बेचारा तो बस जिज्ञासा में पूछ रहा था कि लड़कों का नाम भी रश्मि हो सकता है क्या, तुमने तो उसे शर्मिंदा ही कर दिया।" मैं बस मुस्कुराकर रह गया और फिर हम चुपचाप फिल्म देखने लगे। फिर हमने आइसक्रीम का कॉन मंगवाया, उसके बाद कोल्ड ड्रिंक और Nachos भी ले लिए। बीच-बीच में मैं और रश्मि एक-दूसरे के गालों पर

हल्के से किस कर लेते। लेकिन जब भी रश्मि गाल पर किस करने के लिए होंठ आगे बढ़ाती, मैं शरारत से अपना चेहरा थोड़ा घुमा देता और हमारे होंठ आपस में छू जाते। वह मुस्कुराकर धीरे से कहती, "यार, ऐसा मत करो, कुछ-कुछ होने लगता है।" फिर वह मेरे कंधे पर सिर टिकाकर बैठ गई। पर्दे पर मूवी चल रही थी, मगर उसका ध्यान वहाँ नहीं था—वह तो बस मुझे ही देख रही थी और मैं उसकी काजल से सजी आँखों को। मैंने अपने एक हाथ की उँगलियाँ उसकी उँगलियों में कसकर फँसा रखी थीं और दूसरे हाथ से उसके बालों को सहला रहा था। वह कभी मेरे होंठों पर उँगली फेर देती, कभी गालों पर और फिर हम दोनों चुपचाप एक-दूसरे की आँखों में खो जाते। इसी तरह जाने कब मूवी खत्म हो गई और हमें इसका एहसास भी नहीं हुआ। हमारा उठकर जाने का मन नहीं कर रहा था, लेकिन करते भी तो क्या करते। फिर हमने लंच किया और अपने-अपने रास्ते हो लिए। पर रास्ता अलग हुआ, एहसास नहीं। मुझे अपने होठों पर अभी भी ऐसा लग रहा था जैसे उसके होठ वहीं ठहरे रह गए हों और मेरे हाथों में रश्मि के बाल जैसे अब भी लिपटे हों। ऐसा एहसास हो रहा था जैसे वह अभी भी मेरे पास ही बैठी हो। इन्हीं विचारों में उलझा हुआ मैं घर पहुँच गया। जैसे ही मैं घर पहुँचा मुझे देखते ही मेरी भांजी दौड़कर आई और मेरी गोद में चढ़ गई। उसका चेहरा बिल्कुल अपनी माँ पर था। उधर से मेरा भतीजा भी भागता हुआ आया और वह भी मेरी गोद में चढ़ गया। मैं कुछ देर तक दोनों के साथ हँसता-बोलता रहा। थोड़ी देर बाद माँ ने मेरा तिलक किया। कई सालों से वह मेरे जन्मदिन पर तिलक करती आ रही हैं। मुझे तो याद भी नहीं कि यह कब शुरू हुआ था, क्योंकि जब से मैंने होश संभाला है, तब से यह परंपरा चली आ रही है। रात को भाई के आने के बाद हमने केक काटा। मेरे भाई का यहीं आमेर में अपना क्लीनिक है। फिर जब सब लोग सोने चले गए तो मेरी बहन मेरे पास बैठी रही। मेरी भांजी अब भी मेरी गोद में ही लेटी थी—आधी जागी, आधी सोई हुई। मैंने दीदी को रश्मि के बारे में सब कुछ बता दिया। वो कुछ देर

चुप रही, फिर बोली, "लाडे, तू पागल है क्या थोड़ा-बहुत? तुझे यहाँ का माहौल पता है, पिताजी के स्वभाव का भी। ताऊजी के लड़के ने बिरादरी के बाहर शादी की थी , आज तक उसे बिरादरी से बेदख़ल कर रखा है। अभी भी समय है, सम्भल जा।" मैंने धीमे से कहा, "बचपन से लेकर आज तक मेरी हर जिद तुमने ही पूरी करवाई है। गलती मेरी होती थी, डाँट तुम खाती थी, बस ये एक और सही, फिर कुछ नहीं कहूँगा।" मैंने शरारत भरी हँसी से जोड़ दिया, "चल, अंगूठी ले लियो बिचौले वाली।" मेरी बात सुनते ही उसने मेरी कमर में ज़ोर से मुक्का मारा और बोली, "लाडे, तुझे ये बात मज़ाक लग रही है? तू अभी छोटा है, तुझे जात-बिरादरी और समाज का सच पता नहीं।" फिर उसने थोड़ा गंभीर होकर पूछा, "और ये बता कि रश्मि ने अपने घरवालों को बताया?" मैंने सिर हिलाकर कहा, "नहीं, अभी नहीं बताया, पर वो मना लेगी।" दीदी बोली, "ठीक है। अभी मैं सिर्फ माँ और भाई से बात करूँगी। उसके बाद उसे बोलना कि वो भी अपने घरवालों से बात करे। फिर समय देखकर पिताजी से बात करेंगे — या तो मैं करूँगी, या भाई-माँ में से कोई एक।" उसकी आवाज़ में चिंता भी थी और अपनापन भी , जैसे डाँट के पीछे हमेशा की तरह मेरा ही साथ छुपा हो। फिर मैं सोने चला गया।

अगले हफ्ते मैं वापस जयपुर आ गया। मैंने रश्मि का दिया हुआ वह डिब्बा धीरे से खोला। भीतर एक तांबे का छल्ला था, सुनहरे रंग का पार्कर का पेन और एक चिट्ठी। चिट्ठी को पलटा तो पीछे रश्मि की तस्वीर थी—खुले बाल, जैसे किसी अधूरे ख़याल की तरह मेरे सामने बिखरे हुए। फिर मैं वह चिट्ठी पढ़ने लगा और पढ़ते-पढ़ते सो गया।

एक दिन दीदी का फोन आया। वह बोलीं कि उन्होंने माँ के पास बात का ज़िक्र किया था। पहले तो माँ बहुत गुस्सा हुईं, लेकिन फिर वही बोलीं—पहले एक बार लड़की के घरवालों की सहमति का पता कर लो। जब मैंने यह बात रश्मि

को बताई तो वह बोली कि अगले महीने उसके एक कज़िन की शादी है। वह उसी बहाने अपनी माँ से बात करने की कोशिश करेगी।

फिर रश्मि मुझसे नए दफ़्तर के बारे में पूछने लगी। फिर मैंने बताना शुरू किया, उसे यह भी बताया कि दफ़्तर में तन्वी नाम की एक लड़की है। वो तुरंत बोली, “और दिखने में कैसी है ये तन्वी मैडम?” मैंने कहा, “ठीक है, सच कहूँ तो सुंदर है।” कुछ पल चुप रहकर उसने पूछा, “मुझसे भी ज़्यादा सुंदर है क्या?” मैंने शरारती लहजे में हँसकर कहा, “तुमसे ज़्यादा तो नहीं, पर कम भी नहीं है।” मेरे इतना कहते ही उसने बिना कुछ बोले फोन काट दिया। मैंने दोबारा कॉल मिलाई, पर उसने उठाया नहीं। करीब दस मिनट बाद उसका ही फोन आया। आवाज़ थोड़ी सधी हुई थी— “हाँ बताओ, क्यों फोन किया था?” मैंने धीरे से कहा, “यार, मज़ाक कर रहा था।” वो तुरंत बोली, “कुछ भी हो, अब बात भी उसी तन्वी मैडम से ही कर लिया करो। मैं नहीं बोलती तुमसे। अगर मुझसे बात करनी है तो वादा करो कि उससे कभी बात नहीं करोगे।” मैं मुस्कराया, “अरे, कभी नहीं करूँगा।” वो बोली, “अगर वो किसी काम से पूछे भी तो बस हाँ या ना में जवाब दोगे, बस।” मैंने हँसकर कहा, “हाँ मेरी सरकार, जैसा आपका हुक्म।” इस बार वो हँस पड़ी। सच ही है—प्यार में लड़कियाँ अपने वाले को लेकर कितनी Possesive हो जाती हैं। किसी दूसरी लड़की से उसे बात करते देखना भी उन्हें सहन नहीं होता। और सच कहूँ तो लड़के भी कहाँ अलग होते हैं— अगर कोई अनजान आदमी उनकी प्रेमिका से बात भी कर ले, तो खून खौल उठता है और लगता है कि पता नहीं क्या कर दूँ। फिर मैंने कहा कि यार रश्मि विष्णु के जाने के बाद सारा घर सुना सुना लग रहा है, सोता तो वो अपने कमरे में ही था, फिर भी पता नहीं क्यूँ। वो बोली कोई ना आदत पड़ जायेगी और मैं तो हूँ ही। फिर हम बात करते करते सो गए। उस महीने जब वह घर आने वाली थी, उसी दिन मुझे तेज़ बुख़ार था। हालत ऐसी थी कि बिस्तर से उठना भी मुश्किल लग रहा था। मैं पिछले हफ़्ते भर से

अदालत भी नहीं जा रहा था। शाम को उसका फोन आया—"मैं एक घंटे में पहुँच जाऊँगी।" मैंने धीमे से कहा, "सीधे वहीं कैफ़े पहुँच जाना, मैं भी आ रहा हूँ।" बड़ी मुश्किल से खुद को संभालकर मैं कैफ़े तक पहुँचा। बदन टूटा जा रहा था। एक कप चाय पी और उसी टेबल पर सिर रखकर कब सो गया, पता ही नहीं चला। पाँच बजे सोया था—जब आँख खुली तो सात बज रहे थे। कैफ़े वाले ने मुझे हिलाकर उठाया और बोला, "भाई साहब, कैफ़े बंद करना है।" मैंने जल्दी से फोन देखा। रश्मि का साढ़े पाँच बजे का संदेश था—"कॉल मत करना, भाई के साथ हूँ।" बस, वही पढ़कर मैं चुपचाप वापस कमरे पर आ गया और फिर से सो गया।

रात करीब दस बजे उसका फोन आया। वह बोली, "सॉरी यार, बस स्टैंड पर उतरी तो सामने भाई खड़ा था। वह किसी और काम से आया हुआ था, फिर मुझे उसके साथ ही जाना पड़ा।" मैंने धीमे से कहा, "कोई बात नहीं, जब वापस जाओगी, तब मिल लेंगे।" फिर तीन–चार दिन बाद रश्मि वापस जा रही थी। हम दोनों उसी कैफ़े में, उसी सीट पर बैठे थे। वह कुछ मायूस-सी लग रही थी। मैंने पूछा, "क्या बात है?" वह कुछ देर चुप रही। फिर जैसे बहुत भीतर से आवाज़ निकालकर बोली, "मैंने माँ से हमारे बारे में बात की थी।" शब्द हवा में ठहर गए। मैं बस उसे देखता रहा और चुपचाप सुनता रहा। वह आगे कहने लगी, "पहले तो माँ यह सुनकर एकदम सुन्न-सी हो गई। फिर उनकी आँखों में आँसू आ गए। कहने लगीं कि जब तू पैदा हुई थी तो घर-परिवार के लोग दुखी थे, पर तेरे पापा ने पूरे गाँव में मिठाई बाँटी थी। इतना तो तेरे छोटे भाई के होने पर भी खुश नहीं हुए थे। और जब तेरा जज का पेपर क्लियर हुआ था, तब भी पूरे गाँव में मिठाई बाँटकर आए थे। अब तू ऐसी बातें कर रही है… अगर तू बिरादरी से बाहर शादी कर लेगी तो हमारी इज़्ज़त का क्या होगा? लोग क्या कहेंगे? फिर तेरे छोटे भाई से शादी कौन करेगा?" वह थोड़ा रुकी, फिर भर्राई आवाज़ में बोली, "माँ ने कहा— तू अपने पापा की इतनी लाडली है कि वो

तुझे कुछ कहेंगे नहीं, पर भीतर ही भीतर टूट जाएँगे और जीते-जी मर जाएँगे। इसलिए जो भी है, यहीं छोड़ दे। आज के बाद उस लड़के से मिलना तो दूर, फोन पर भी बात मत करना। अगर तुझे हम तीनों की जान प्यारी है तो उसे भूल जा और अगर उसके साथ ही ज़िंदगी बितानी है, तो वह भी तेरी मर्ज़ी।" उसकी आवाज़ काँप रही थी। आख़िरी शब्द आते-आते उसकी आवाज़ टूट गई। वह रो पड़ी—धीमे, दबे हुए, लगभग अपराधी-से आँसू। मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। उसे बहुत मुश्किल से चुप कराया, जैसे किसी बिखरती हुई चीज़ को दोनों हथेलियों से समेट रहा हूँ। हम दोनों चुप बैठे रहे। वही कैफ़े था, वही लोग, वही आवाज़ें,पर उस पल लगा, जैसे हमारी दुनिया अचानक बहुत छोटी हो गई है और उसके भीतर प्रेम और भय आमने-सामने खड़े हैं। अब मुझे विष्णु की कही हुई वही बातें याद आने लगीं। मन जैसे अचानक किसी अनजाने डर से भर गया। रश्मि धीमे स्वर में बोली, "यार, मैं सब कुछ सह सकती हूँ, लेकिन अपने पापा को मरते हुए नहीं देख सकती।" इतना कहकर उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। उसकी उँगलियों की पकड़ में एक अजीब-सी बेचैनी थी , जैसे वह सिर्फ मेरा हाथ नहीं, अपने टूटते साहस को थामे बैठी हो। उसी क्षण मेरी नज़र उसकी उँगली पर गई। वहाँ एक अंगूठी चमक रही थी। मैं बिना कुछ बोले उसे देखता रह गया। मन में जैसे किसी ने काँटा चुभो दिया , कहीं रश्मि की सगाई तो नहीं कर दी? वह अंगूठी बहुत साधारण थी, फिर भी उस क्षण वह मुझे किसी फैसले की मुहर जैसी लगी। मैं कुछ कह भी नहीं पाया था कि उसने बिना कहे ही मेरे मन की बात पढ़ ली। । हल्की-सी खीझ के साथ बोली, "यार, एक मिनट में ही तुमने मुझे पराया कर दिया? अगर मेरी सगाई होती तो सबसे पहले तुम्हें ही बताती।" फिर उसकी आवाज़ धीमी पड़ गई — जैसे शब्द खुद से डर रहे हों और बोली "लेकिन अब लग रहा है, शायद जल्दी ही कर देंगे।" उसके बाद कुछ पल हमारे बीच सिर्फ खामोशी बैठी रही — भारी, बोझिल, और अनकही

बातों से भरी। मैं महसूस कर रहा था कि कभी-कभी प्रेम का सबसे बड़ा दुख बिछड़ना नहीं, बल्कि धीरे-धीरे पास बैठकर भी दूर होते जाना होता है।

मैंने कहा, "रश्मि, मुझे सिर्फ एक साल का समय दे दो। मैं यूपीएससी का एग्ज़ाम क्लियर कर लूँगा। कलेक्टर बन जाऊँगा, फिर कोई कुछ नहीं कहेगा, तुम्हारे पिताजी भी नहीं। तुम कहो तो मैं तुम्हारे पैर पकड़ लूँ या तुम्हारे पिताजी के पैर पकड़ लूँ। पर ऐसा मत करो, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं पाऊँगा।" वो बोली, "यार मैं क्यों पकड़वाऊँगी पैर? मुझे अपने समाज का भी पता है और पिताजी का भी। अगर वो नहीं रहे, तो मैं भी जी नहीं पाऊँगी।" हम काफी देर तक यूँ ही एक-दूसरे का हाथ थामे बैठे रहे, जैसे समय को रोक लेना चाहते हों। फिर रश्मि को भी जाना था। जैसे ही वह उठने लगी, मैंने उसका हाथ फिर से पकड़ कर उसे बैठा लिया। मैं उसके कंधे पर सिर रखकर चुपचाप बैठ गया — करीब दस मिनट तक हम दोनों बिना कुछ कहे वैसे ही बैठे रहे। उस खामोशी में शब्दों से ज़्यादा बातें थीं। जब आखिरकार जाने के लिए खड़े हुए, तो हम एक-दूसरे की आँखों में देख भी नहीं पा रहे थे। दोनों की आँखें लाल थीं, जैसे कुछ भीतर ही भीतर टूट रहा हो। फिर हमने एक-दूसरे को गले लगाया। लेकिन यह हग अलग था। पहले हम सामने से गले मिलते थे लेकिन आज हम साइड से गले मिले, जैसे दोनों एक-दूसरे को दिलासा दे रहे हों… जैसे कह रहे हों — सब ठीक हो जाएगा। उसके बाद बातें तो रोज़ होती रहीं, पर पहले जैसी बात नहीं रही।

5 नवम्बर

उस सुबह मैं रूम पर बैठा खाना खा रहा था कि तभी रश्मि का फोन आया। उसकी आवाज़ में एक अजीब-सी थरथराहट थी। वो बोली, "मैं कल सुबह घर आ गई थी, कल मुझे देखने वाले आए थे और सगाई करके चले गए।" इतना सुनते ही जैसे आँखों के सामने अंधेरा छा गया। हाथ में पकड़ी रोटी थाली में ही छूट गई। शब्द जैसे कहीं खो गए थे। वो धीमे से बोली, "अपना ख्याल रखना, अब हम कभी नहीं मिलेंगे" और फिर उसकी आवाज़ टूट गई। वह रोने लगी। मैंने खुद को संभालते हुए उसे समझाया, चुप कराया। हम लगभग एक घंटे तक बात करते रहे — जैसे हर शब्द आखिरी हो और हर सांस एक विदाई।

फिर वह बोली, "अभी तीन-चार दिन यहीं हूँ, लेकिन अभी मिल नहीं सकती। संडे को जब वापस जाऊँगी, तब आखिरी बार मिलूँगी और तुम्हें मेरी कसम, मुझे याद करके रोना मत।" इतना कहकर उसने फोन काट दिया। उसके बाद के तीन दिन जैसे जीवन से कट गए। थाली सामने रखता, तो रश्मि का चेहरा सामने आ जाता — वही दिन याद आता जब उसने अपने पीजी पर मेरे सामने थाली रखी थी और खुद सामने खड़ी मुस्कुरा रही थी। अब अपने कमरे में अकेले बैठता, सामने देखता और उसे वहाँ न पाकर आँखें भर आतीं। एक भी निवाला गले से नहीं उतरता। फोन पर हमारी रोज़ बात होती, मगर सिर्फ कुछ मिनट — जैसे रिश्ते का आखिरी धागा बस उँगलियों में अटका रह गया हो। फिर संडे को उसका फोन आया। उसने उसी कैफे में मिलने को कहा — आखिरी बार। जब मैं पहुँचा, वह पहले से बैठी थी। मुझे देखते ही खड़ी हुई और चुपचाप दीवार की ओर सरक गई, जैसे खुद को संभाल रही हो। वो मेरे लिए चूरमा बनाकर लाई थी। मैं तीन दिन से भूखा था। जैसे ही उसने अपने हाथों से पहला निवाला खिलाया, मेरे आँसू अचानक बह निकले — जैसे बरसों से रुके हुए हों। मुझे रोता देख वह भी रोने लगी। हम पाँच मिनट तक बिना कुछ बोले बैठे

रहे , सिर्फ सिसकियों की धीमी आवाज़ थी। फिर उसने कहा, “आज आखिरी बार, मेरे हाथों से खा लो।” मैंने कोशिश की, मगर चूरमा भी जैसे गले से लड़खड़ाकर नीचे उतर रहा था। कुछ देर बाद हम खड़े हुए। पाँच मिनट तक एक-दूसरे को कसकर गले लगाए रहे — जैसे समय को वहीं रोक लेना चाहते हों।मैंने रश्मि के गले से वह शॉल उतार ली, जो उसने Amazon से मंगवाई थी। वह चुप रही—न उसने रोका, न कुछ कहा। फिर वह बिना कुछ कहे मुड़ी… और चल दी। मैं उसे जाते हुए देखता रहा। ऐसा लग रहा था जैसे सिर्फ मैं ही नहीं, बल्कि पूरा रास्ता भी उसे जाते हुए देख रहा हो — और हर कदम के साथ मेरी दुनिया मुझसे दूर होती जा रही हो।

फिर मैं रूम पर आ गया। कुछ देर यूँ ही बैठा रहा, फिर अचानक बैग उठाया और बाज़ार निकल पड़ा। वहाँ से शराब की एक बोतल, दो बीयर के कैन, सिगरेट की डिब्बी और थोड़ा-सा खाने का सामान ले आया। फिर मैं सारा सामान लेकर छत पर आ गया। हल्की ठंडक थी। मैंने कोने में लकड़ियाँ जमा कर आग जलाई। आग की लपटें धीरे-धीरे उठने लगीं, जैसे रात की खामोशी को सहला रही हों। मैंने पैग बनाया और **डी.डी. बसु की** ***Introduction to the Constitution of India*** खोलकर बैठ गया । फिर मैंने गहरी साँस ली, नाक पर हाथ रखा और पानी मिलाया हुआ पैग एक ही साँस में गटक गया। आज शराब बिना किसी रुकावट के अंदर उतर गई — वैसी जलन, वैसी घुटन नहीं हुई, जैसी उस दिन विष्णु के साथ पहली बार पीते हुए हुई थी। बस एक हल्की-सी गर्माहट सीने में उतरकर फैल गई और मैं देर तक आग की लपटों को देखता बैठा रहा। पृष्ठ संख्या 93 पर लिखा हुआ था “ No citizen shall be discriminated on grounds of Religion , Race , Caste , Sex or Place of Birth. ” पर हमारे साथ तो जाति के आधार पर भेदभाव हुआ था, यानी हमारे मौलिक अधिकारों का हनन हुआ था। फिर मैंने वह पन्ना फाड़कर आग के हवाले कर दिया। धीरे-धीरे यही सिलसिला चलता रहा।

मैं पैग बनाता रहा, पन्ने पढ़ता रहा और उन पन्नों को आग के हवाले करता रहा। वहाँ लकड़ियों में आग गहरी हो चुकी थी और मेरे सीने में भी। फिर मैंने एक सिगरेट जलाई और उसे पीने लगा। शुरुआत में खाँसी हुई, मगर फिर पीता रहा और पीते-पीते पूरी डिब्बी खत्म कर दी। उसके बाद मैं नीचे गया और यूपीएससी की तैयारी की वे सारी किताबें उठा लाया, जिन्हें कॉलेज के दिनों में पढ़ा था। उन्हें भी एक-एक करके आग के हवाले कर दिया। फिर अचानक आँखों के सामने हल्की-सी रोशनी और गरमाहट महसूस हुई। जब आँखें खोलीं तो देखा—सूरज निकल चुका था। रात को कब नींद आ गई थी, पता ही नहीं चला।

सुबह जब आँख खुली तो पूरा शरीर अकड़ा हुआ था और दर्द से कराह रहा था। मैं कुर्सी पर बैठे-बैठे ही सो गया था। सामने नज़र गई तो लकड़ियों में अब आग नहीं थी — बस राख ही राख बची थी। पास रखी बोतल आधी खाली हो चुकी थी। मैंने उसे उठाया और नीचे चला आया। जैसे ही पानी की पहली घूँट पी, पानी अंदर ही नहीं गया। लगा जैसे गले का रास्ता बंद हो गया हो। तभी ध्यान आया — एक ही रात में बीस सिगरेट पी चुका था मैं, शायद उसी का असर था। मैंने गरम पानी पीने की कोशिश की, पर वह भी गले में चुभ रहा था। आखिरकार मैंने एक पैग बनाया — वह किसी तरह उतर गया। अब थोड़ा ठीक लग रहा था, लेकिन सिर में भयंकर दर्द था। ऐसा लग रहा था जैसे दिमाग की नसें अभी फट पड़ेंगी।

फिर मैं ऐसे ही मुँह धोकर अदालत में चला गया। आज एक केस की तारीख थी। जैसे ही मैं चैंबर में पहुँचा, त्रिवेदी जी अभी नहीं आए थे। कमरे में खामोशी फैली हुई थी, जिसे सिर्फ कागज़ों की सरसराहट तोड़ रही थी। तन्वी मेज़ के पास बैठी फाइलों के पन्ने उलट-पलट रही थी, जैसे शब्दों में छुपे सच को ढूँढ़ रही हो। मुझे देखते ही वह हल्का-सा संभली, नमस्ते की और बोली, “सर, आधे घंटे में निकलना है, 11 बजे की डेट है — मल्होत्रा वाले मामले की।”

मैंने सिर हिलाया, पर मन कहीं और अटक गया। मल्होत्रा भाइयों ने आपस में ही मुकदमा कर रखा था। एक ही माँ की कोख से जन्मे, एक ही आँगन में खेले, एक ही छत के नीचे बड़े हुए ,पर अब वही दो नाम अदालत की दो अलग-अलग फाइलों में बँट चुके थे। अब फार्महाउस की प्रॉपर्टी , जो कभी छुट्टियों की हँसी सँजोता था, के चक्कर में एक-दूसरे के खून के प्यासे बन चुके थे। एक वो थे त्रेता युग के राम और लक्ष्मण, जो एक-दूसरे पर जान देने को तैयार रहते थे। और एक ये कलयुग के राम-लक्ष्मण हैं जो एक-दूसरे की जान लेने पर उतारू हैं। एक वकील एक भाई का पक्ष ले रहा था और दूसरे का पक्ष हम ले रहे थे। जीते चाहे कोई भी, पर हार तो धर्म की ही होगी। एक भाई दूसरे को गलत साबित करने में लगा था और दूसरा पहले को। सब दृष्टिकोण का फर्क है ,वरना गांधारी की कहानी में तो उसकी आँखों पर बँधी पट्टी के पार खड़े श्रीकृष्ण भी गलत थे। फिर तन्वी ने मुझे ध्यान से देखा और पूछने लगी, “सर, आपकी तबीयत ठीक नहीं लग रही।” मैंने कहा, “बस रात को देर से सोया था और गला थोड़ा-सा खराब है।” हम जैसे ही चलने लगे, तन्वी ने हल्की-सी नाक सिकोड़ी और बोली, “सर, कुछ स्मेल-सी आ रही है।” शायद उसे शराब या सिगरेट की गंध आ गई थी। मैंने बात टालते हुए कहा, “मुझे तो नहीं आ रही, शायद जुकाम होगा, इसलिए महसूस नहीं हो रही।” फिर हम अदालत चले गए। वहाँ भी वही हुआ जो पिछले कई सालों से होता आया था, जज साहब ने अगली तारीख दे दी। हम वापस चेंबर में आ गए और अपने-अपने काम में लग गए। थोड़ी देर बाद तन्वी बोली, “सर, लंच कर लो।” मैंने कहा, “आज मैं लंच लेकर नहीं आया।” वो बोली, “तो मेरे साथ शेयर कर लो सर, मैं लाई हूँ।” मैंने मना करते हुए कहा, “नहीं, तुम खाओ। मेरी तबीयत ठीक नहीं है, रोटी नहीं खाई जाएगी, इसलिए लाया भी नहीं। मैं बाहर जाकर चाय के साथ कुछ हल्का-फुल्का खा लूंगा।” इतना कहकर मैं बाहर आ गया और चाय पीने लगा। पहले मैं चाय बहुत कम पीता था, पर अब दिन में चार-पाँच कप

पी ही लेता था। तभी रश्मि का फोन आ गया। वो पूछने लगी, “कैसे हो?” मैंने कहा, “ठीक हूँ।” वो बोली, “इतनी धीरे-धीरे क्यों बोल रहे हो?” मैंने कहा, “गला खराब है।” फिर उसने पूछा, “आज फोन क्यों नहीं किया?” मैंने कहा, “बस, केस के सिलसिले में थोड़ा जल्दी आना था।” वो बोली, “जल्दी तो तुम पहले भी आते थे” मैं कुछ पल चुप रहा, फिर धीरे से कहा, “सच पूछो तो रश्मि,मैं तुम्हें Bother नहीं करना चाहता था ।” उधर से कुछ क्षण तक खामोशी रही और फिर उसने बिना कुछ कहे फोन काट दिया।

शाम ढलते ही रश्मि का फोन आया। उसकी आवाज़ में हल्की शिकायत थी— “क्या अब मैं तुम्हारी कुछ भी नहीं रही? मान लिया कि मेरी सगाई हो चुकी है, लेकिन हमारे बीच ऐसा तो कभी नहीं था कि तुम मुझे Bother कर रहे हो।” मेरे होंठ जैसे सिल गए थे, एक भी शब्द बाहर नहीं आ रहा था। आखिर हिम्मत जुटाकर मैंने कहा— ‘बस यूँ ही मन में आया तो कह दिया, इसके पीछे मेरी कोई और मंशा नहीं थी। वो बोली, “आज तो कह दी तुमने ये बात,आगे से मत कहना, तुम्हें मेरी कसम है।” तभी रश्मि अचानक बोली, ‘घर से फोन आ रहा है’, उसकी आवाज़ में हल्की-सी घबराहट थी। इससे पहले कि मैं कुछ कह पाता, उसने जल्दी से फोन काट दिया। फिर मैंने बोतल खोली और चुपचाप बैठ गया। भगवान का शुक्र था कि अब शराब धीरे-धीरे अंदर उतर रही थी। कुछ देर बाद रश्मि का फोन आया। उसकी आवाज आई — “आलोक, मैं दो नावों के बीच फँसी हूँ। तुम सो रहे थे क्या?” मैंने खुद को सँभालते हुए कहा, “नहीं तो।” वो बोली, “आवाज़ से तो ऐसा लग रहा था।” तभी मुझे महसूस हुआ कि नशे में आदमी की आवाज सचमुच ऐसी हो जाती है, जैसे अभी-अभी नींद से उठा हो। कुछ पल चुप रहने के बाद वो बोली, “जब तुमसे बात करती हूँ तो लगता है उसे धोखा दे रही हूँ और जब उससे बात करती हूँ तो लगता है तुम्हें धोखा दे रही हूँ।” मेरे भीतर कुछ टूटकर गिरा, पर आवाज सीधी रखी और बोला ,“तो मुझसे बात करना बंद कर दो। अब तो

सारी उम्र तुम्हें उसी के साथ रहना है।" वो घबराई हुई सी बोली, "तू ठीक है ना?" मैंने झूठ को सच की तरह कहा, "हाँ, मैं बिल्कुल ठीक हूँ।" कुछ देर बाद फोन कट गया। उसके बाद तो जैसे यही सिलसिला बन गया। मैं रोज़ पीता, सामने रश्मि की फोटो रखता और और ख़ुद को ख़त्म कर डालने का सिलसिला यूँ ही चलता रहता। हर घूँट के साथ एक ही ख्याल आता — जो बातें उसने इस एक साल में मुझसे की थीं, शायद वही बातें अब वो उसके साथ कर रही होगी और देखते-देखते, ऐसे ही दो महीने बीतने को आ गए। शाम ढलते ही मेरी दिनचर्या एक जैसी हो गई थी। दिन भर दफ़्तर में खुद को काम में उलझाए रखता और जैसे ही लौटता कमरे की खामोशी मेरा इंतज़ार करती मिलती। मैं चुपचाप बोतल खोलता और गिलास भरकर बैठ जाता। धीरे-धीरे घूँट उतरते जाते और साथ ही रश्मि की यादें भी दिल में गहराती जातीं। कुछ ही देर में आँखें भीग जातीं। कभी उसकी हँसी याद आती, कभी उसकी आवाज़। रोते-रोते ही बिस्तर पर गिर पड़ता, बिना खाना खाए, बिना किसी से बात किए। अब नींद भी सुकून नहीं देती थी। रात को अजीब-अजीब ख्वाब आने लगे थे। कभी लगता रश्मि मेरे पास बैठी है। हम पहले की तरह बातें कर रहे हैं — धीमे, सुकून से, जैसे कुछ बदला ही न हो। तभी अचानक कोई अनजान आदमी आता है और रश्मि उसके साथ चल पड़ती है। वो जाते-जाते एक बार पीछे मुड़कर देखती है। उसकी आँखों में आँसू होते हैं , जैसे वो रुकना चाहती हो, पर रुक नहीं पाती। मैं घबराकर उसे रोकने के लिए आगे बढ़ता हूँ, पर जितना तेज़ मैं उसके पास जाने की कोशिश करता, वो उतनी ही तेज़ मुझसे दूर होती चली जाती। अचानक महसूस होता कि जैसे ज़मीन मुझे अपने अंदर खींच रही है। मेरे पाँव धीरे-धीरे धँसने लगते हैं, मैं चीखना चाहता हूँ, दौड़ना चाहता हूँ, लेकिन शरीर साथ नहीं देता। साँस रुकने लगती है, सीना जकड़ जाता है और तभी झटके से मेरी आँख खुल जाती है। कमरा फिर वही होता है — खाली, ठंडा, और खामोश। सिर्फ मेरी तेज़ साँसों की आवाज़ और दिल

की धड़कन बाकी रह जाती है। जो ताँबे का छल्ला रश्मि ने मुझे दिया था, अब उँगली में कसने लगा था। एक रात नींद में अजीब-सा अहसास हुआ, मानो वही छल्ला मेरी उँगली से मेरे प्राण धीरे-धीरे अपनी ओर खींच रहा हो और मैं भीतर से खाली होकर निढाल पड़ा हूँ। घबराकर मैंने आधी नींद में ही छल्ला उतारकर सिरहाने रख दिया। सुबह जब आँख खुली तो कुछ हल्कापन महसूस हुआ। थोड़ी देर उसे देखता रहा, फिर जाने क्यों, उसे दोबारा उँगली में पहन लिया।

4 जनवरी

आज रविवार था। दोपहर की सुस्ती अभी कमरे में फैली ही थी कि रश्मि का फोन आ गया। उसने पूछा, “कहाँ हो तुम?” अजीब बात थी, पहले जब वो फोन करती थी तो पूछती थी — कैसे हो? अब पूछ रही थी — कहाँ हो? और शायद आने वाले दिनों में पूछेगी — कौन हो? हम दोनों फिर से एक-दूसरे के लिए ‘तू’ से ‘आप’ बन चुके थे। मैंने धीरे से कहा, “मैं तो यहीं हूँ” मेरी आवाज़ में जैसे एक और बात छुपी थी —

मैं तो वहीं हूँ, जहाँ तुम मुझे छोड़कर चली गई थी, तुम ही कहीं आगे बढ़ गई हो, मुझे पीछे छोड़कर।

वो शायद जयपुर या आमेर का नाम सुनना चाहती थी और मैं अपनी ज़िंदगी में उसकी जगह बता देना चाहता था। वो बोली, “एक बार मिलना था, आधे घंटे में बस स्टैंड आ सकते हो?” मैंने बस इतना कहा, “आ जाऊँगा।” फोन कट गया। मैं उठकर वॉशबेसिन तक गया। चेहरे पर पानी मारा। रात का हैंगओवर अभी भी सिर में धुंध की तरह अटका हुआ था। फ्रिज से थोड़ी दही निकाली, दो-तीन कौर खाए — जैसे शरीर को नहीं, खुद को संभालने की कोशिश कर रहा हूँ। कुछ देर बाद लगा कि अब चल सकता हूँ। जब बस स्टैंड पहुँचा, तो वो सामने से आती दिखाई दी। हम दोनों धीरे-धीरे एक-दूसरे के पास आए। न कोई मुस्कान, न कोई सवाल। बस स्टैंड की बेंच पर बैठ गए और पूरे दस मिनट ऐसे ही बैठे रहे, जैसे एक-दूसरे को पहचानते तो हों,पर जानने से इंकार कर रहे हों। फिर रश्मि ने मुझे गौर से देखा और बोली, “ये क्या हाल बना रखा है अपना और सच बताओ, शराब पी है क्या तुमने?” मैंने झेंपते हुए नज़रें चुरा लीं और कहा, “पागल हो क्या” वो तुरंत बोली, “तो खाओ कसम।” मैंने औपचारिक-सा हाथ अपने सिर पर रखा और धीमे से कहा, “अपनी कसम” उसने झट से मेरा हाथ पकड़ लिया। उसकी आँखों में बेचैनी और जिद दोनों

थीं। “अपनी नहीं, मेरी कसम खाओ,” उसने कहा और मेरा हाथ जबरदस्ती अपने सिर पर रखने लगी। लेकिन जाने क्यों, उस पल मेरे हाथ में जैसे जान ही नहीं रही। मैंने हल्के से हाथ पीछे खींच लिया। उसने अपने बैग की ज़िप धीरे से खोली, भीतर से एक शादी का कार्ड निकाला और मेरी ओर बढ़ा दिया। कार्ड पर नज़र पड़ते ही जैसे समय थम गया — 14 जनवरी की तारीख़ मोटे अक्षरों में चमक रही थी। मैंने सूखी आवाज़ में कहा, “एक बार, कैफ़े चलते हैं, बस आख़िरी बार हग करना है।” वो हल्का-सा पीछे हट गई। “नहीं अब नहीं कर सकती। अब मैं किसी और की हूँ।” उसकी बात जैसे हवा में ही ठहर गई थी कि तभी सामने से एक आदमी आकर उसके ठीक सामने रुक गया। कुछ पल की चुप्पी के बाद समझ आया — वही उसका कॉलेज वाला बॉयफ्रेंड, जिसके बारे में वो कभी मुझे बताया करती थी।

उसने मुस्कुराकर बताया कि उसकी ससुराल यहीं है और वो वहीं आया हुआ है। रश्मि ने मेरी ओर इशारा करके उसे मेरे बारे में बताया। फिर अचानक उसने मेरे हाथ से शादी का कार्ड लिया, उस आदमी को थमाते हुए बोली, “ज़रूर आ जाना… मैं तो किसी काम से आ नहीं पाई।” उस आदमी के चेहरे पर जैसे सवाल उभरा — इसके हाथ से कार्ड लेकर क्यों दे रही हो? पर वो कुछ कह पाता, उससे पहले ही रश्मि हड़बड़ाकर बोल पड़ी, “अरे, ये तो बिना कार्ड के भी आ जाएगा।” उसकी इस बात का मतलब मैं आज तक नहीं समझ पाया — वो भरोसा था, तंज़ था, या एक ऐसा अधिकार, जो अब उसका रहा ही नहीं था।

फिर उसने रश्मि से पूछा, “जयपुर में कहाँ रहती हो?” रश्मि ने धीमे से कहा, “शांति इन्क्लेव।” वो बोला,

“मैं भी उसी तरफ जा रहा हूँ… चलो, ड्रॉप कर देता हूँ।” मैं वहीं खड़ा रह गया — जैसे किसी कहानी का पात्र, जिसका संवाद खत्म हो चुका हो, पर मंच

छोड़ने की हिम्मत बाकी ना हो। रश्मि ने जाते-जाते धीमे से कहा, “ठीक है आलोक जी… बाय।” और फिर वो मेरी आँखों से ओझल हो गयी। उसने “बाय” कहा था,

लेकिन मेरे कानों में जैसे “ख़ुदा हाफ़िज़” गूंजा— जैसे ये अलविदा नहीं, हमेशा के लिए बिछड़ने का ऐलान हो। मैं कुछ देर वहीं खड़ा रहा, फिर भारी कदमों से कैफ़े में जाकर एक कोने की मेज़ पर बैठ गया। घड़ी की सुइयाँ चलती रहीं, लोग आते-जाते रहे, पर मेरे लिए समय जैसे ठहर गया था। करीब आधे घंटे बाद उसका मैसेज आया— “मैं घर पहुँच गयी हूँ।” स्क्रीन पर शब्द चमकते रहे, लेकिन उंगलियाँ जवाब लिखने से इंकार करती रहीं। मैं बस यही सोचता रहा— जब रश्मि मेरी थी, तब भी मैंने उसे कभी ढंग से छुआ नहीं और अब, जब वो किसी और की हो चुकी है, तो छूने का सवाल ही कहाँ उठता है। दिल बार-बार एक ही बात पर अटक जाता— एक बार, बस एक आख़िरी हग कर लेती तो क्या बिगड़ जाता? क्या मैं उस आख़िरी हग का भी हक़दार नहीं था? फिर मन में एक कड़वाहट उठने लगी— वो अकेली भी तो जा सकती थी, क्या ज़रूरत थी उसे उसके साथ जाने की? इन्हीं सवालों की आग में बैठा-बैठा मेरे भीतर का प्यार धीरे-धीरे जलने लगा। मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि क्या करूँ। भटकते-भटकते मैं एक ऐसे होटल के सामने जा खड़ा हुआ, जो इसी काम के लिए बदनाम था। अंदर गया तो रिसेप्शन वाले ने सपाट आवाज़ में कहा, “दो घंटे के तीन हज़ार लगेंगे।” मैंने बिना कुछ बोले पैसे थमा दिए और सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चला गया। कमरे में घुसकर मैं कुर्सी पर बैठ गया। मन जैसे कहीं और ही अटका हुआ था। करीब दस मिनट बाद दरवाज़ा खुला और एक लड़की अंदर आई। वो आकर मेरे सामने बैठ गई और हल्की मुस्कान के साथ पूछने लगी, “कहाँ से हो? क्या करते हो?” मैं चुप रहा। जैसे शब्द मेरे गले में ही अटक गए हों। वो शायद मेरी खामोशी को अलग तरह से समझी। जैसे ही उसने अपने कपड़े उतारने के लिए हाथ बढ़ाया, मैंने तुरंत रोक दिया। “नहीं,

रहने दो, बस ऐसे ही बैठो।" मैं अपने साथ बोतल ले आया था। मैंने धीरे से पैग बनाया। तभी वो बोली, "मेरा भी बना दो।" मैंने हैरानी से उसकी तरफ देखा, फिर बोतल उसकी ओर बढ़ा दी। इतनी देर में मैंने मुश्किल से दो पैग खत्म किए थे, और उसने चार एक के बाद एक पी लिए। कुछ ही देर में वो उठकर मेरे पास आकर बैठ गई। उसके हाथ मेरे कंधे पर आ टिके ,वो मुझे छूने लगी। मैं बार-बार उसका हाथ हटाता रहा, जैसे हर स्पर्श मुझे भीतर से और खाली कर रहा हो। उसने मेरी कमीज़ के दो बटन खोल दिए और मेरी गर्दन पर झुककर किस करने लगी। उसी पल, मेरी आँखों के सामने रश्मि का वही चेहरा कौंध गया जो उस रात मेरे ख्वाब में आया था, आँसुओं से भरी आँखें, पीछे मुड़कर देखती हुई। मुझे लगा जैसे मेरी साँसें लगभग रुक ही जाएँगी। मैंने घबराकर उसे जोर से धक्का दे दिया। वो लड़खड़ाई, मगर गिरते-गिरते संभल गई। वो गुस्से में बोली, "दिमाग खराब है क्या?" लेकिन मैं वहाँ रुक नहीं सका। दरवाज़ा खोला और लगभग भागता हुआ होटल से बाहर निकल आया। सड़क पर आकर भी मेरे कदम काँप रहे थे। समझ नहीं आ रहा था कि मैं क्या कर रहा हूँ और क्यों। उस शाम पहली बार मुझे अपने आप से नफरत होने लगी थी। मैंने त्रिवेदी जी से कह दिया था कि मैं दस दिनों के लिए बाहर जा रहा हूँ—आप ही सब संभाल लीजिए। असल में मैं कहीं बाहर नहीं जा रहा था, बस अपने ही भीतर डूबने वाला था। उन दिनों मेरी दुनिया एक ही चीज़ में सिमट गई थी—शराब की बोतल और रश्मि का नाम। मैं दिन-रात उसी में डूबा रहता। न दिन का होश रहता, न रात का। समय जैसे अपनी चाल भूल गया था और मैं भी। जब तक होश बाकी रहता, गिलास भरता रहता। और जब शब्द लड़खड़ाने लगते, तब बस एक ही नाम होंठों पर रह जाता—"रश्मि… रश्मि…"

आख़िरकार शरीर जवाब दे देता, और मैं बेहोशी में गिर पड़ता— जैसे दर्द से भागते-भागते खुद ही अंधेरे में समा गया हूँ।

14 जनवरी

सुबह के चार बज रहे थे। चारों दिशाओं से मंदिरों की घंटियाँ हवा में घुलकर जैसे किसी अदृश्य शोकगीत का रूप ले चुकी थीं। सामने गंगा का जल ठहरा हुआ सा प्रतीत हो रहा था — मानो वह भी किसी प्रतीक्षा में शांत बैठी हो। मैं हरिद्वार गंगा के घाट की सीढ़ियों पर बैठा था। कुछ देर बाद उठकर गंगा जी में डुबकी लगा दी। पानी ऐसा लगा जैसे जल नहीं, पिघली हुई बर्फ हो। एक पल को साँस रुक गई, शरीर कांप उठा। जब बाहर निकला तो पूरा शरीर सुन्न पड़ चुका था — जैसे भीतर का सारा ताप उसी जल ने सोख लिया हो। मैं चुपचाप होटल लौट आया। आज जयपुर में रश्मि की शादी थी और मैं यहाँ, सैकड़ों किलोमीटर दूर, हरिद्वार में,शायद खुद से भागने, या खुद को खोजने आया था — मुझे खुद नहीं पता। सुबह के दस बज चुके थे। कमरे की खामोशी काटने लगी तो मैंने ओल्ड मोंक की बोतल खोल ली। पहला पैग अंदर गया तो जैसे सीने में जमा पत्थर थोड़ा सा पिघला। दूसरा गया, तीसरा गया और फिर समय का होश ही नहीं रहा। बोतल खत्म होते-होते एक बज गया था। मैं कुर्सी पर ढह चुका था — बेसुध, खाली, जैसे भीतर कुछ बचा ही न हो। अचानक मन हुआ घाट पर जाने का। शायद गंगा फिर से कुछ धो दे या शायद मैं खुद को वहीं छोड़ आऊँ। जैसे ही खड़ा हुआ, पैर जवाब दे गए। मैं ज़मीन पर गिर पड़ा। हालत ऐसी थी कि घाट तो दूर, कमरे के बाहर तक जाना भी मुमकिन नहीं था। मैं किसी तरह उठकर बाथरूम तक पहुँचा और फवारा खोल दिया। पानी बर्फ जैसा था। आधे मिनट में ही शरीर फिर सुन्न पड़ गया। मैं वहीं खड़ा रहा — पानी लगातार सिर पर गिरता रहा, पाँच मिनट, दस मिनट, आधा घंटा। जब बाहर निकला तो आँखें साफ थीं। नशा उतर चुका था या शायद दर्द फिर से होश में आ गया था।

मैं धीरे-धीरे होटल से निकला और फिर घाट की ओर चल पड़ा। मैं वहाँ मृत्यु के बाद नहीं, मृत्यु से पहले ही अपना श्राद्ध करने गया था। यह श्राद्ध मेरे शरीर का नहीं था — उस आत्मा का था जो बहुत पहले ही मर चुकी थी। शरीर मर जाए तो लोग उसका श्राद्ध करते हैं , पर जब आत्मा ही मर जाए

तो उसका उसका श्राद्ध करना भी तो ज़रूरी है।? शायद इसलिए मैं खुद ही उसे विदा देने चला आया था। घाट पर एक पंडित खाली बैठा था।मैं धीरे-धीरे उसके पास पहुँचा और धीमी आवाज़ में कहा, "पंडित जी, श्राद्ध करवाना है।" उसने मेरी तरफ देखा, फिर बिना कुछ पूछे हाथ से इशारा किया — "बैठ जाइए।" मैं उसके सामने चुपचाप बैठ गया। कुछ पल बाद उसने कहा, "मरने वाले की कोई प्रिय वस्तुएँ हों तो सामने रख दीजिए और मरने वाले की फोटो पर हार चढ़ा दीजिए।" मेरे हाथ हल्के-से काँप गए। मैंने जेब से वो तांबे का छल्ला निकाला , जिसे कभी उतारने का मन नहीं करता था। फिर बैग से सुनहरे रंग का पार्कर का पेन रखा , जिस पेन से कलेक्टर बनने के बाद सबसे पहला हस्ताक्षर करना था। और आखिर में वो चिट्ठी जिसके एक तरफ रश्मि की फोटो बनी थी और दूसरी तरफ उसके हाथों से लिखा हुआ।

प्यारे आलोक,

जन्मदिन की बहुत-बहुत शुभकामनाएँ , "My life" । मुझे माफ़ करना, मेरी आँख लग गई थी। मैं 12 बजे का अलार्म लगाकर फोन तकिये के नीचे रखकर सोई थी। अलार्म बजकर बंद भी हो गया, लेकिन मुझे पता ही नहीं चला। तुमने मुझे अपनी शर्ट का साइज भी नहीं बताया और जूतों का भी नहीं, तो मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि तुम्हारे लिए क्या लाऊँ। फिर मैं एक पेन ले आई। इसे संभालकर रखना… और पहला साइन तभी करना जब तुम कलेक्टर बनो।

साथ में एक छल्ला भी है। मैं चाहती थी कि इसे अपने हाथों से तुम्हें पहनाऊँ, लेकिन अभी के लिए तुम खुद ही पहन लेना। जब हमारी सगाई होगी, तब मैं अपने हाथों से पहनाऊँगी। यार आलोक, तुम मुझे बहुत प्यारे लगते हो और तुम्हारी बातें तो उससे भी ज़्यादा प्यारी लगती हैं और अर जद तो बच्चों जैसी सी बात करा फेर निरा लाड़ आवा तेरपा। शादी के बाद जब हम दोनों अपने-अपने दफ़्तर से लौटा करेंगे तो आते ही एक-दूसरे को Cuddle किया करेंगे। अब सिर्फ़ हग करने से दिल नहीं भरता। ऐसे तो मैं बहुत कुछ लिख दूँ, लेकिन अभी के लिए इतना ही...

तुम्हारी ठकुराइन

फिर उसके बाद मैंने तीनों चीज़ें धीरे-से सामने रख दीं, जैसे किसी की याद नहीं, पूरी जिंदगी को चुपचाप धरती पर रख रहा हूँ। पंडित जी ने गंभीर स्वर में कहा, "फोटो पर हार चढ़ा कर रख दो और अगर फोटो साथ नहीं है तो फोन में ही खोल कर रख दो।" उनकी बात सुनकर मैंने पास रखी फूलों की माला अपने गले में डाल ली। हल्की सी हँसी के साथ बोला, " मेरा ही श्राद्ध करना है।" मेरी बात सुनते ही पंडित जी का चेहरा तमतमा उठा। "तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है क्या? ये सब मज़ाक लगता है तुम्हें? ऐसे कर्म करोगे तो सीधे नरक जाओगे!" मैंने उनकी आँखों में देखते हुए धीमे मगर टूटे हुए स्वर में कहा, "नरक? नरक तो मैं यहीं भोग रहा हूँ, पंडित जी। मेरे शब्दों के बाद कुछ पल के लिए चारों तरफ सन्नाटा छा गया। पंडित जी बस चुपचाप मुझे देखते रहे… जैसे पहली बार किसी जीवित इंसान के भीतर मर चुके आदमी को देख रहे हों। फिर धीमे से बोले, "इन सब वस्तुओं को गंगा जी में बहा दो।" मैंने वह पत्र उठाया , उसके ऊपर पेन और वह छल्ला रख दिया और काँपते हाथों से गंगा की धारा में छोड़ दिया। पत्र के ऊपरी तरफ रश्मि की फोटो थी। वह पत्र धीरे-धीरे पानी पर तैरता हुआ दूर जाने लगा और मैं उसे देखता रहा, जैसे अपनी ही ज़िंदगी को बहते हुए देख रहा हूँ। उसी पल वह पुराना ख्वाब फिर आँखों के सामने जीवित हो उठा— रश्मि दूर जा रही है, कोई उसे मुझसे छीन कर ले जा रहा है, मैं उसे रोकना चाहता हूँ मगर कदम मानो वहीं ठहर गए हों और धरती मुझे अपने अंदर खींच रही है और वह हर पल मुझसे और दूर होती जाती है। पत्र अब डूबने को था। जैसे ही उसका किनारा पानी में समाने लगा,मेरे भीतर कुछ टूट गया। अचानक एक झटका सा लगा और बिना सोचे मैं गंगा की तरफ बढ़ा । मैंने बस कदम उठाया ही था कि पीछे से किसी ने मेरी भुजा कस कर पकड़ ली। "अरे ओ मूर्ख !" मैंने मुड़कर देखा— एक अघोरी बाबा खड़े थे। राख से लिपटा शरीर, जटाएँ, आँखों में अजीब सी चमक और उस क्षण जाने क्यों मुझे ऐसा लगा जैसे शंकर स्वयं मेरे सामने साक्षात खड़े हों। जो विनाश के

भी स्वामी हैं और जीवन के भी। उसकी आँखें ऐसी थीं जैसे सब पढ़ चुकी हों। वो मेरी तरफ बढ़ा और गुर्राकर बोला — "मूर्ख! आत्महत्या करने चले थे क्या? तुम्हें पता नहीं, आत्महत्या पाप है?" मेरे होंठ सूख गए। आवाज़ जैसे गले में अटक गई। अघोरी ने मेरी आँखों में झाँकते हुए धीमे लेकिन भारी स्वर में कहा — "प्रेम में तुम मर तो सकते हो, लेकिन तुम्हें मुक्ति नहीं मिलेगी।" मेरी नज़र अपने आप गंगा की लहरों से हटकर ज़मीन पर टिक गई। सच ही तो था, मैं मरना नहीं चाहता था ,बस इस दर्द से भागना चाहता था। अघोरी ने फिर कहा — "जिसे खोया है, उसे बहा देने से मन नहीं बहता। जीना सीख, यही तेरी साधना है।" मैं वहीं सीढ़ियों पर बैठ गया। गंगा बहती रही और पहली बार लगा — शायद डूबना पानी में नहीं, यादों में होता है। फिर अघोरी बोला — "तूने अपने हाथों से अपना श्राद्ध तो कर दिया, पर श्राद्ध से शरीर मुक्त होता है, आत्मा नहीं। आत्मा की मुक्ति तब होती है जब जिसे तूने अपने भीतर बसाया है, वही तुझे अपने हाथों से विदा करे। एक दिन वो तेरा श्राद्ध करके यहीं आएगी। जिस दिन वो तेरा श्राद्ध करने यहाँ आएगी, उस दिन ये गंगा भी यहीं होगी , जैसे समय ने उसे यहीं बाँध रखा हो, वही पंडित होगा, वही मंत्र होंगे और मैं भी यहीं रहूँगा — काल की तरह, साक्षी बनकर। पर उस दृश्य को देखने के लिए तुम्हारा शरीर नहीं, बल्कि तुम्हारी आत्मा यहाँ होगी — इसी घाट पर बैठी हुई और उसी लड़की को निहारती हुई जो इस जन्म में तो तुम्हारी न हो सकी पर जन्मों-जन्मांतर तक तुम्हारी ही रहेगी, जैसे राधा कृष्ण की हैं। । फिर मैं होटल चला गया और कमरे में घुसते ही बोतल खोल ली और सामने फोन में रश्मि की तस्वीर रख दी। घूंट दर घूंट उतरते गए और ख्यालों में रश्मि उतरती चली गई। मैं सोचने लगा — आज रश्मि लहंगे में कितनी खूबसूरत लग रही होगी। हाथों में लाल चूड़ा खनक रहा होगा,

माथे पर बिंदी ऐसे चमक रही होगी जैसे किसी ने चाँद तोड़कर उसके माथे पर सजा दिया हो। कानों में झुमके होंगे, मांग में टीका, हाथों पर मेहंदी होगी पर

मेहंदी में शायद उसका नाम छुपा होगा , मेरा नहीं। होंठों पर सजी लिपस्टिक किसी और की जिंदगी की शुरुआत लिख रही होगी। वो धीरे-धीरे स्टेज की तरफ बढ़ रही होगी , लोग ताली बजा रहे होंगे और वो मुस्कुरा रही होगी — वही मुस्कान, जिसके लिए मैं कभी पूरी दुनिया से लड़ जाने को तैयार था। लेकिन तभी मेरी आँखें धुंधली हो गईं। ख्याल आया कि उसका हाथ थामकर स्टेज पर चढ़ाने वाला मैं नहीं, कोई और होगा। जिस हाथ को पकड़ने से पहले मैंने हजार बार सोचा था आज वही हाथ किसी और के हाथ में होगा , बिना झिझक, बिना हक के सवाल के। फिर मुझे पता ही नहीं चला—कब नींद ने घेर लिया, कब आँख खुली, और कब जिंदगी मुझे खींचकर जयपुर ले आई।

अगले दिन जब मैं दफ़्तर गया तो वहाँ मिस्टर मल्होत्रा बैठे थे। उसके हाथ में मिठाई का डिब्बा था — शायद वे केस जीत गए थे। उन्होंने मुस्कराते हुए डिब्बा मेरी ओर बढ़ाया। मैंने भी संकोचवश एक बर्फी उठा ली। मल्होत्रा के जाते ही मैंने वह बर्फी का टुकड़ा भी और पूरा डिब्बा भी उठाकर डस्टबिन में फेंक दिया। तन्वी ने चौंककर पूछा, "सर, ये क्या किया आपने?" मैंने धीमे मगर सख़्त स्वर में कहा, "मैं उसे अच्छा इंसान नहीं मानता जो अपने ही भाई पर अदालत में केस करके कुछ हासिल करे। एक भरत थे — जिन्होंने अपने भाई की चरण-पादुकाएँ चौदह साल तक अमानत की तरह रखकर राम की जगह उनका राज्य चलाया और एक ये हैं। इसकी दी हुई मिठाई भी मेरे गले से नहीं उतरती।" तन्वी कुछ नहीं बोली, बस हल्का-सा मुस्कुरा दी — जैसे मेरी बात से सहमत तो हो, पर उसे शब्दों में ढालना न चाहती हो।

फिर हम दोनों अपने-अपने काम में लग गए। जब लंच का समय हुआ तो हम साथ बैठकर खाना खाने लगे। खाते-खाते अचानक मेरी नज़र उस पर ठहर गई। ध्यान से देखा तो उसकी आँखों में नमी तैर रही थी। कुछ ही पलों में वे आँसू पलकों की कैद से छूटकर धीरे-धीरे उसके गालों पर लुढ़क आए। मैं घबरा-सा गया और धीमे से पूछा, "क्या बात हो गई, तन्वी?" वह बोली, "सर ,कुछ

नहीं," पर इतना कहते-कहते उसकी आवाज़ भर्रा गई, और वह खुद को रोक न सकी। अगले ही पल वह और भी भावुक होकर रोने लगी। मैंने बहुत मुश्किल से उसे चुप कराया और फिर धीरे से पूछा, "बात तो बताओ, क्या हुआ है?"

वो कुछ पल चुप रही, फिर बोली, "एक लड़का है, कॉलेज के दिनों से हम एक-दूसरे से प्यार करते हैं। वो भी मुझे बेइंतहा चाहता है लेकिन अलग बिरादरी की वजह से घर वाले नहीं मान रहे।" फिर उसने धीरे-धीरे पूरी कहानी सुना दी। मैंने माथे पर हाथ मारा और आधी मुस्कान, आधी थकान के साथ कहा, "पता नहीं पूरी दुनिया ही इस रोग की मरीज है या फिर मुझे ही ऐसे लोग टकराते हैं।" ये सुनकर तन्वी के चेहरे पर हल्की मुस्कान लौट आई। आँसू थम गए। वो बोली, "और कौन मिला है आपको, सर?" मैंने कहा, "एक वो था जो मुझसे पहले यहाँ था और एक तुम्हारे सामने बैठा है।" उसने मुझे ऐसी हैरानी भरी आँखों से देखा, जैसे कोई ऐसा सच सुन लिया हो जिसकी उम्मीद ही नहीं थी। वो बोली, "विष्णु सर ने तो कभी नहीं बताया मुझे, चलो मान लेती हूँ कि आपके रूममेट थे तो बता दिया होगा। पर आपकी बात नहीं मान सकती।" मैंने हल्का सा भौंह उठाकर पूछा, "क्यों?" वो बोली, "मैंने नोटिस किया है आप किसी भी लड़की से ढंग से बात नहीं कर पाते। अदालत में भी जब किसी लड़की से बात करते हो तो नज़रें झुका कर बोलते हो, कभी आँख मिलाकर नहीं। मैं नहीं मान सकती कि आपकी भी कोई गर्लफ्रेंड रही होगी या है।" मैं बस झूठी-सी हँसी हँस दिया।

इतने में त्रिवेदी जी आ गए। हम कुछ देर बैठे रहे और न्याय प्रणाली के बारे में बहस छिड़ गई। कभी वे कहते कि जैसे स्टेट बार काउंसिल का कार्यकाल पाँच साल का होता है, वैसे ही डिस्ट्रिक्ट बार काउंसिल का भी होना चाहिए और कम से कम तीन साल का तो होना ही चाहिए। फिर उन्होंने पश्चिमी उत्तर प्रदेश की चर्चा छेड़ दी। चूँकि उनकी पत्नी वहीं की है और वे अभी कुछ दिन पहले ही वहाँ से होकर आए थे। वे कहने लगे कि मेरठ या मुज़फ्फरनगर में भी एक

हाई कोर्ट होना चाहिए क्योंकि पश्चिमी उत्तर प्रदेश वालों को इलाहाबाद हाई कोर्ट 300 किलोमीटर से भी ज़्यादा दूर पड़ता है। वे बोले कि सरकार का बड़ा ही अजीब तर्क है कि मेरठ में हाई कोर्ट होने से पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अपराध दर बढ़ जाएगी। तभी सामने से 10–12 वकील आते हुए दिखाई दिए। वे आकर बैठ गए, चाय आई और चाय पर चर्चा शुरू हो गई। उनकी बातों से लग रहा था कि वे रश्मि के पिताजी के बारे में कुछ बात कर रहे थे। फिर त्रिवेदी जी बोले कि विश्वनाथ प्रताप सिंह ने हमारी बिरादरी से स्टेट बार काउंसिल के चुनाव में यह कहकर समर्थन लिया था कि वे डिस्ट्रिक्ट बार के चुनाव में हमारा समर्थन करेंगे। लेकिन वह पाँच साल के लिए प्रधान तो बनकर बैठ गया पर हमारी प्रधानगी उसे एक साल के लिए भी सहन न हुई। अगले ही साल उसने हमारे खिलाफ अपने भतीजे को चुनाव में उतारकर हमें हरवा दिया। अबकी बार फिर उसका भतीजा फिर खड़ा हो रहा है। पिछली बार हमारी जो बेइज्जती हुई थी, उसका बदला इस बार ज़रूर लेंगे। लेकिन इस बार वह खुद खड़ा नहीं होगा — चुनाव के बाद हमेशा के लिए अपने बेटे के पास लंदन जा रहा है। आप लोग निर्णय लें कि कौन खड़ा होगा और इस बार किसी भी हालत में जीतना ही जीतना है।

फिर उनमें से एक ने कहा, “किसी और को क्यों, आलोक को ही खड़ा कर देते हैं। जवान है और भरपूर समर्थन मिलेगा — अपनी बिरादरी का भी और दूसरी बिरादरी का भी।” बाकी लोगों ने भी हाँ में हाँ मिलानी शुरू कर दी। तभी त्रिवेदी जी बोले, “ठीक है, फिर हो गया फैसला।” मैंने संकोचपूर्वक कहा, “मैं… मैं कैसे खड़ा हो सकता हूँ?” तभी उनमें से एक बोला, “क्यों, तुम वकील नहीं हो क्या? और वैसे भी हमारे समाज को और वकीलों को तुम्हारे जैसे नौजवान युवकों की ज़रूरत है।” फिर मैं मना करने लगा और बोला कि न तो मेरा अनुभव है और न ही मेरा मन है। तभी उनमें से एक वकील आगे झुककर बोला, “तुम्हें बस पर्चा भरना है… बाकी सब हम देख लेंगे।” मैं फिर भी

हल्की-सी ना-नुकर करने लगा। मन तैयार नहीं था, और ज़िम्मेदारी का बोझ भीतर कहीं खटक रहा था। मेरी झिझक देखकर त्रिवेदी जी ने कुर्सी पर थोड़ा सीधा होकर, सख्त लहज़े में कहा, "बेटा, हम तुमसे पूछ नहीं रहे कि तुम्हें खड़ा होना है या नहीं, हम बता रहे हैं कि तुम्हें खड़ा होना है।" उन्होंने मेरी आँखों में देखते हुए बात पूरी की, "जब तुम्हारे समाज का कोई व्यक्ति किसी दूसरे समाज के सामने चुनाव हार जाता है, तो उसकी टीस अकेले उसकी नहीं रहती , पूरे समाज की होती है। तो तुम्हारी पूरी जिम्मेदारी बनती है कि अगली बार जी-जान लगाकर उस बेइज़्ज़ती का बदला लो। फिर मैंने बेमन से कहा कि आप जो उचित समझें। फिर सभी लोग उठकर जाने लगे और मैं सोचने लगा कि जो समाज किसी दूसरे समाज को छोटा-सा ओहदा मिलने पर ही परेशान हो उठता है, वह अपनी बेटी दूसरे समाज के लड़के के साथ कैसे ब्याह देगा। अगर कोई प्रेम-विवाह कर भी ले, तो दोनों के समाज के लोग उन्हें सारी उम्र ताने मारते रहते हैं और वे बड़ी मुश्किल से अपनी ज़िंदगी बसर कर पाते हैं। फिर पर्चा भरा, चुनाव का दौर चला, वाद-विवाद हुए, तरह-तरह के प्रलोभन मिले और हम चुनाव जीत गए। फिर जैसे चुनाव से पहले लोग आए थे, उसी तरह लोग आए, चाय पी, बधाई दी और चले गए। अब त्रिवेदी जी भी कहे अनुसार सारा कार्यभार मुझे सौंपकर लंदन चले गए।

एक दिन हम फिर दफ़्तर में बैठे थे। दोपहर का समय हुआ तो हम खाना खाने लगे। तन्वी आज सुबह से ही परेशान लग रही थी। ऐसा लग रहा था जैसे कुछ पूछूँगा तो अभी रो पड़ेगी। लंच करते-करते वह सचमुच रोने लगी। मैंने बड़ी मुश्किल से उसे चुप कराया। वह कहने लगी, "सर, जब मैं खाना खाती हूँ तो उसकी याद बहुत ज़्यादा आने लगती है। वह अपने हाथों से मुझे खिलाता था और खाना खाते वक्त वही चेहरा सामने आ जाता है। कई बार घर पर मुझे देखने वाले आ चुके हैं, पर मैं घरवालों को पहले भी मना कर चुकी हूँ कि मुझे शादी नहीं करनी।" मैंने कहा, "ऐसे रोने से तो कुछ हासिल नहीं होने वाला।"

वह बोली, "सर, रोने के अलावा मेरे हाथ में कुछ भी नहीं है जो मैं कर सकूँ।" फिर वह बोली, "सर, पहले आपने अपने बारे में जो बताया था, मुझे मज़ाक लगा था। लेकिन अब वह सच लगता है। जब आप यहाँ नए-नए आए थे तो कुछ और ही इंसान थे, और अब आपके मुँह से अक्सर शराब की महक आती रहती है। आप बड़े हैं इसलिए मैं आपको टोकती नहीं, लेकिन यह ठीक नहीं है, ऐसे तो आप मर जाएँगे। वैसे बताइए तो, आपके साथ हुआ क्या था?" फिर मैंने उसे सब कुछ बता दिया। मैंने कहा, "जब विष्णु सुधा के फ़िराक़ में अपना यह हाल बना कर रखता था तो मुझे अजीब लगता था पर अब मैं खुद ही ऐसा हो चुका हूँ तो पता लगा कि असली दुख का तभी पता चलता है जब खुद पर गुज़रती है, नहीं तो सब चीज़ें मज़ाक ही लगती हैं।" **अहमद सलमान साहब** की एक मशहूर ग़ज़ल है-

जो हम पे गुज़रे थे रंज सारे जो ख़ुद पे गुज़रे तो लोग समझे
जब अपनी अपनी मोहब्बतों के अज़ाब झेले तो लोग समझे
वो जिन दरख़्तों की छाँव में से मुसाफ़िरों को उठा दिया था
उन्हीं दरख़्तों पे अगले मौसम जो फल न उतरे तो लोग समझे
उस एक कच्ची सी उम्र वाली के फ़ल्सफ़े को कोई न समझा
जब उस के कमरे से लाश निकली ख़ुतूत निकले तो लोग समझे

तन्वी मुस्कुराकर बोली, "वाह, रश्मि जी ने तो आपको शायर भी बना दिया।" मैंने हल्की हँसी के साथ कहा, "ये ग़ज़ल मेरी लिखी हुई नहीं है।" वो बोली, "चलो कोई बात नहीं, मुझे तो आपने सुनाई है — क्या फ़र्क पड़ता है किसने लिखी।" सच तो यह था कि रश्मि के जाने के बाद मेरी ज़िंदगी सिमटकर बस कुछ चीज़ों तक रह गई थी — शराब, किताबें, सिगरेट, शायरी और गाने। फिर रोज़ की दिनचर्या यही हो गई कि रोज़ दफ़्तर से कमरे पर आता, बोतल खोल लेता, फिर टीवी चला लेता। धीरे-धीरे नशा होने लगता तो उपन्यास खोल लेता या कोई शायरी की किताब। ऐसे ही दिन बीतते जा रहे थे — शराब के

नशे में, रश्मि की यादों में। न सेहत का ख़याल था, न दीन-दुनिया का… बस मैं था, रश्मि थी और उसके साथ गुज़रे हुए वे पल। **जौन एलिया साहब** ने शायद यह ग़ज़ल मेरे लिए ही लिखी थी

हालात-ए-हाल के सबब हालात-ए-हाल ही गई
शौक़ में कुछ नहीं गया शौक़ की ज़िंदगी गई
उसकी उम्मीद-ए-नाज़ का हमसे ये मान था कि आप
उम्र गुज़ार दीजिए उम्र गुज़ार दी गई
उसके विसाल के लिए अपने कमाल के लिए
हालत-ए-दिल की थी ख़राब और ख़राब की गई
एक ही हादसा तो है और वो ये कि आज तक
बात नहीं कही गई बात नहीं सुनी गई
तेरा फ़िराक़ जान-ए-जां ऐश था क्या मेरे लिए
यानी तेरे फ़िराक़ में खूब शराब पी गई

थोड़ी देर चुप रहने के बाद तन्वी अचानक बोली, "सर, आपने **Arjun Reddy** मूवी देखी है क्या?" "मैंने कहा, 'नहीं देखी।' वो बोली, 'एक बार ज़रूर देखना। आपकी कहानी जैसी ही है — बिल्कुल ऐसा लगता है जैसे आप पर ही बनी हो।'

25 जुलाई

आज रश्मि का जन्मदिन था। मैं शाम को कमरे पर लौटते हुए एक केक उठा लाया। बोतल तो पहले से ही रखी थी। केक और बोतल मेज़ पर रखकर चुपचाप बैठ गया। आधी बोतल खत्म ही की थी कि नशा चढ़ने लगा। नशे में ही मैंने फोन निकाला, रश्मि का नंबर खोला और उसे डिलीट कर दिया क्योंकि अब नंबर फोन में रखने की ज़रूरत नहीं थी — मुझे तो वो मुंहज़बानी याद था। डर था, कहीं नशे में ही कॉल न लग जाए। फोन में नंबर होता है तो मिलने की गुंजाइश ज़्यादा रहती है, दिमाग में हो तो उंगलियाँ इतनी जल्दी Keypad तक नहीं पहुँचतीं। उसका नंबर मैंने “**My Life**” के नाम से सेव कर रखा था जो अब किसी और की ज़िंदगी है। फिर मैंने केक काटा और टीवी ऑन कर दिया। उस पर **Half girlfriend** का गाना चल रहा था—

तुम मेरे हो इस पल मेरे हो, कल शायद ये आलम न रहे
कुछ ऐसा हो तुम तुम न रहो , कुछ ऐसा हो हम हम न रहें

यह गाना सुनकर लगा जैसे रश्मि मेरे सामने खड़ी हो और वही मुझसे ये सब कह रही हो। उसके बाद मैंने **Arjun Reddy** फिल्म लगा ली। धीरे-धीरे बोतल भी खत्म हो गई और केक भी। आज कुछ हिसाब ही नहीं रहा कि कितना नशा हो चुका था। एक तो पूरी बोतल, ऊपर से केक —नशा और भी चढ़ गया था। अब बेड तक उठकर जाने की हिम्मत नहीं बची थी। मैंने फोन में रश्मि की फोटो खोली, उसे अपने दिल के पास रख लिया, दोनों बाज़ुओं से ऐसे थाम लिया जैसे सचमुच उसे गले लगा रखा हो और सोफे पर ही सो गया। सुबह आँख खुली तो उठना भी मुश्किल हो रहा था। फिर मैं उठकर दफ़्तर चला गया और काम में लग गया। त्रिवेदी जी के जाने के बाद काम सचमुच थोड़ा ज़्यादा बढ़ गया था। अब बार एसोसिएशन की ज़िम्मेदारी भी सिर पर आ चुकी थी। दोपहर को लंच करते हुए तन्वी ने पूछा, “कैसी लगी मूवी?” मैंने संक्षेप में

कहा, “बहुत बढ़िया थी।” लेकिन उसके बाद मुझे तन्वी से ज़्यादा बात करना ठीक नहीं लगा। अचानक मुझे रश्मि की वही बात याद आ गई—“तुम उससे बस हाँ और ना में ही बात करोगे।” उस दिन के बाद मैंने सचमुच तन्वी से कभी ढंग से बात नहीं की। पहले की तरह बस मतलब भर का रिश्ता रखा—काम की बात, और फिर खामोशी। **इमरान आमी साहब** की ग़ज़ल की पंक्ति है, जो उस वक़्त मेरी हालत पर बिल्कुल सटीक बैठती थी—

आपका हुक्म था सरकार, नहीं होने दिया
ख़ुद को दुनिया का तलबगार नहीं होने दिया

ऐरे-ग़ैरे को ठहरने की इजाज़त नहीं दी
दिल को दिल रखा है, बाज़ार नहीं होने दिया

और सच यही था— मैंने अपने दिल को समझा लिया था कि अब उसमें सिर्फ़ यादें रहेंगी, लोग नहीं।

14 अगस्त

कुछ ख़ास नहीं था , बस एक साल और पीछे छूट गया। ज़िंदगी वैसी ही चल रही थी, जैसी बचपन से चलती आई थी। वैसे भी, मर्द उन चीज़ों की खुशियाँ कहाँ मनाता है, जिनमें उसका अपना कोई योगदान न हो , जन्मदिन भी उन्हीं में से एक है। आज घर गया था। माँ ने माथे पर तिलक लगाया, केक कटा

और फिर मैं जाकर दीदी के पास बैठ गया। हर कुछ मौजूद था, पर रश्मि वहाँ नहीं थी। मुझे **तहज़ीब हाफ़ी साहब** की कही हुई वो बात याद आ गई-

तेरे होते हुए मोमबत्ती बुझाई किसी और ने
क्या ख़ुशी रही गयी थी जन्मदिन की मैं केक क्या काटता

इस बार भी अजीब-सा संयोग था , दीदी आई हुई थीं और मैं पिछले साल के बाद आज ही घर गया था। वो सोफ़े पर बैठी थी। मैं उतरकर नीचे बैठ गया और सिर उसकी गोद में रख दिया। वो बोली — "लाडे, ये क्या हाल बना रखा है तूने अपना? और दाढ़ी कितनी बढ़ा रखी है। कम से कम आज के दिन तो कटवा आता। माँ पता है, तेरी शक्ल देखकर कितनी दुखी हो रही थी। तुझे कुछ नहीं कहा, पर मुझे कह रही थी और जो ये तूने हाल बना रखा है ना, मुझे सब पता है। वो चाहे तेरी कुछ भी लगती हो, पर अगर तुझे कुछ हो गया ना तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा।

सिगरेट-शराब भी पीनी शुरू कर दी तूने। पता नहीं और भी कोई नशा शुरू कर रखा हो। कम से कम हमारा ही ख्याल कर ले, क्या हम तेरे कुछ नहीं लगते?" मेरे मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला और मैं रोने लगा। उसने मुझे ऊपर खींच लिया और गले से लगा लिया। मैं और भी ज़्यादा रोने लगा। वह मुझे चुप कराने लगी और मैं बड़ी मुश्किल से शांत हुआ। वह बोली — "मैं तेरे से आठ साल बड़ी हूँ और तू मेरे लिए भाई नहीं, मेरे बच्चों जैसा है। मैं ये कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती कि किसी पराई लड़की के लिए तू अपना ये हाल बना कर रखे।

अगर तुझे कुछ हो गया तो हमारा क्या जीना रह जाएगा? अगर मानता है तो ठीक, नहीं तो मैं घर बता दूँगी। फिर अपने-आप मान जाएगा। बस इतना देख ले — अगर अपनी बहन से ज़रा सा भी प्यार करता है तो आज के बाद मेरे सिर पर हाथ रखकर कसम खा कि अब नहीं पीएगा।" मैंने धीमे से कहा — "आगे से नहीं करूँगा।" फिर मैं दोबारा सोफ़े पर बैठकर उसकी गोद में लेट गया और बोला, "सिर दबा दे, बहुत ज़्यादा दुख रहा है।" वो बोली, "बोतल ला दूँ? थोड़ी-सी पी ले, ठीक हो जाएगा।" मैं बोला, "नहीं, अब नहीं रात हो गई है।" उसने गुस्से में मेरे कंधे पर ज़ोर से मुक्का मारा और बोली, "चला जा मेरे पास से, दोबारा दिख मत जाना।" मैं हँसकर बोला, "मज़ाक कर रहा हूँ, जब कह दिया आगे से नहीं पीऊँगा, तो नहीं पीऊँगा।" फिर मैंने उसकी तरफ देखा — उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। मैंने बड़ी मुश्किल से उसे चुप कराया। वो बोली, "मुझसे तेरी ये हालत देखी नहीं जाती, अगर तुझे कुछ हो गया ना, तो तुझसे पहले मैं मरूँगी।" मैंने कहा, "मुझे कुछ नहीं होगा।" फिर उसने दो मिनट तक मुझे अपने गले से लगाए रखा और बोली, "आजा, मेरी गोद में लेट जा।" और वो फिर मेरा सिर दबाने लगी। करीब एक घंटा वो ऐसे ही बैठी रही — मेरा सिर सहलाती और दबाती रही। फिर मैं खड़ा हो गया और बोला, "अब ठीक हूँ।" उसने मेरे गालों पर हाथ रखकर कहा, "जा लाडे अब सो जा।" सुबह उठा तो पिताजी जोर-जोर से कुछ कह रहे थे। मैं उनके पास गया तो मुझ पर ही बरस पड़े। "बस यही दिन देखना बाकी रह गया था। हमारे बाप-दादा ने कभी शराब की तरफ देखा तक नहीं और ये जनाब बोतल बैग में डालकर घर ले आ रहे हैं। क्या असर पड़ेगा हमारे बच्चों पर, हमारा पूजा-पाठ वाला घर है, इस कुपुत्र ने तो धर्म ही भ्रष्ट कर दिया। अगर बाहर किसी को पता लग गया तो क्या मुँह दिखाने लायक रह जाएंगे हम। " माँ ने बीच में धीरे से कहा, "कोई बात नहीं, बच्चा है, मैं समझा दूँगी।" पिताजी और ज्यादा गुस्से में बोले, "ये इतना बड़ा बच्चा कहाँ से हो गया? बच्चा तो यथार्थ है बेचारा, जो इसके बैग में झाँक रहा था कि चाचू मेरे लिए क्या लाए हैं और चाचा अपने

भतीजे के लिए शराब लेकर आया है।" पिताजी ने मेरी तरफ घूरकर कहा, "अगर ये घर में रहा तो बच्चों पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। तू बैग उठा और यहाँ से चला जा और कभी मुझे अपनी शक्ल मत दिखाना। तेरे लिए हम मर गए और हमारे लिए तुम।" मैंने चुपचाप बैग उठाया और निकल पड़ा। पिताजी के अलावा सबने रोकने की कोशिश की, मगर मैं नहीं रुका और सीधे जयपुर चला आया। धीरे-धीरे समय बीतता गया। उसके बाद मैं कभी घर नहीं गया। पिता जी को छोड़कर सबका फोन आ जाता था। एक-दो बार मेरी शादी की बात भी चली, पर मैंने साफ़ मना कर दिया और बोला — "जब करनी होगी, तब कर लूँगा।" हर साल मैं रश्मि का जन्मदिन उसी तरह मनाता रहा — एक केक होता, एक बोतल, एक मैं और साथ में रश्मि की यादें। लेकिन अपने जन्मदिन पर उस घटना के बाद मैं फिर कभी घर नहीं जा पाया। उधर तन्वी की भी अपने बॉयफ्रेंड से शादी हो गई और वह चली गई। मुझे लगा कि चलो, किसी की तो चाहत पूरी हुई। उसकी जगह एक नया लड़का ऑफिस में आ गया। नए लड़के ने भी धीरे-धीरे सारा काम संभाल लिया।

अब मैं भी दफ़्तर कम ही जाता था। ज़्यादातर कमरे पर ही पड़ा रहता , सुबह होते ही बोतल खोल लेता, किताबें और शायरी पढ़ता, रश्मि की तस्वीरें देखता और शाम को मयखाने में चला जाता और रात को ही लौटता। पिछले महीने तक सब कुछ ऐसे ही चल रहा था कि तभी विष्णु की शादी का कार्ड आया। मैं सोचने लगा कि विष्णु क्या-क्या बातें करता था और आज किसी और लड़की से शादी कर रहा है। लेकिन जब मैंने कार्ड खोला, तो उसमें दुल्हन के नाम की जगह पर सुधा लिखा हुआ था। उसी वक्त मैंने विष्णु को फोन करके उसे शुभकामनाएँ दीं। पिछले हफ़्ते ही मैं उसकी शादी अटेंड करने अजमेर गया था। मेरे सामने एक आदमी बैठा था जो अपने छोटे-से बच्चे को बड़े प्यार से खिला रहा था। यह देखकर मुझे अपने पिताजी की याद आ गई और आँखों से आँसू बहने लगे। मन में आया, काश बचपन लौट आता और हम कभी बड़े ही न होते। न समझ की जिम्मेदारियाँ होतीं, न डर होता, न पिता-पुत्र के बीच

कोई मनमुटाव। आज हालत यह है कि पिताजी को मुझसे बात किए कितने साल होने को आए हैं—न मैंने उनसे बात की, न उन्होंने मुझसे। तभी सामने से उस छोटे लड़के की माँ आती हुई दिखाई दी। मैं सिर झुकाए अपने ही ख्यालों में डूबा बैठा था कि अचानक मेरी नज़र उसके हाथों पर पड़ी। उसके हाथों में जो कंगन थे, वे जाने-पहचाने से लगे। अरे, ये तो वही कंगन थे जो मैंने रश्मि को दिए थे। मैंने झट से सिर उठाकर देखा और बस उसे देखता ही रह गया। वो रश्मि ही थी। मैंने अपने चेहरे पर हल्का-सा हाथ रख लिया और चुपचाप उसे निहारता रहा। आँखों में वही काजल, वही हल्का-सा मेकअप, माथे पर काले रंग की बिंदी, सब कुछ वैसा ही था। बस दो चीज़ों का फर्क था—होठों पर लिपस्टिक थी और माँग में सिंदूर। मैं करीब आधा घंटा वहीं बैठा उसे देखता रहा।

फिर वो बिना मेरी तरफ देखे चली गई। मैं वहीं बैठा रहा, सामने की कुर्सी को टकटकी लगाए देखता रहा—मानो अभी भी रश्मि वहीं बैठी हो, हरे रंग की साड़ी में। फिर मैं विष्णु के पास गया और बोला कि मुझे रश्मि दिखी थी। उसने कहा, "हाँ, मैंने ही बुलाया था। वह मेरी अदालत में ही जज है। लेकिन न तो रश्मि ने कभी मुझसे तुम्हारे बारे में कुछ पूछा और न ही मैंने कोई ज़िक्र किया।" फिर मैंने विष्णु को शादी की बधाइयाँ दीं और वापस जयपुर चला आया। आज जयपुर में मेरा आख़िरी दिन हैं और मैं यहाँ से सब कुछ छोड़कर अजमेर शिफ्ट हो रहा हूँ।

||अंतः अस्ति प्रारंभः||

Foreword

आलोक हल्की-सी मुस्कान के साथ बोला — "अजीब खेल है नियति का, आज मेरा यहाँ आख़िरी दिन था और तुम इतने दूर घूमते-घूमते जयपुर तक आ पहुँचे। और सोचो, ये भी तो हो सकता था कि तुम किसी और मयख़ाने में चले जाते , या अपने दोस्तों को छोड़कर मेरे पास आते ही नहीं ,या जब मैं नशे में वहीं कुर्सी से फिसलकर गिर पड़ा था तो तुम मुझे यूँ ही छोड़कर चले जाते। फिर कहाँ होती ये मुलाक़ात और कहाँ होती ये बातें।" वह कुछ पल चुप रहा। उसकी आँखें जैसे कहीं बहुत दूर चली गईं। फिर बोला "लगता है ऊपर वाले को भी यही मंज़ूर था कि तुम आओ, हम मिलें और मैं अपनी हड़बीती तुमसे कहूँ। महोदय, तुम पहले शख़्स हो जिसे मेरी पूरी कहानी मालूम है। वरना हर किसी को सिर्फ अपने अपने हिस्से का सच मालूम है।"

उसने गहरी साँस ली, जैसे सीने में दबे वर्षों के बोझ को थोड़ी राहत मिली हो। "सच कहूँ तो मैं एक किताब लिख रहा हूँ। उसमें मैंने सभी पात्र बदल दिए हैं , मगर बातें वही हैं। वही पल, वही दर्द, वही रास्ते जो सारी ज़िंदगी मेरे साथ चलते रहे। उस किताब में मैंने उन्हीं बातों की बात की है जो ज़िंदगी भर सिर्फ़ बातें ही बनकर रह गईं और कभी पूरी न हो सकीं। इन बातों को अगर कोई पहचान सकता है तो सिर्फ़ रश्मि।" वह हल्का-सा मुस्कुराया, मगर मुस्कान में थकान घुली हुई थी। फिर बोला, "अभी उसे पूरा होने में कई वर्ष लगेंगे। अभी शायद मैं भी अधूरा हूँ , बिखरा हुआ , जैसे आधी लिखी हुई कहानी। लेकिन जिस दिन वो किताब पूरी होगी ,शायद उसी दिन मैं भी पूरा हो जाऊँगा।" फिर मैंने कहा, "यार आलोक, जिस तरह तुमने रश्मि को चाहा था, उस हिसाब से तो तुम्हारा इश्क़ मुकम्मल होना चाहिए था।" आलोक मुस्कराया और बोला, "इश्क़ का मुकम्मल होना या न होना कुछ मायने नहीं रखता। इश्क़ अधूरा ही

रहना चाहिए , पूरे हुए रिश्ते अक्सर ज़्यादा साल नहीं चलते। और इश्क़ में ये ज़रूरी नहीं कि वो इंसान हमेशा तुम्हारे पास ही हो। अगर उसकी यादें तुम्हारे पास हैं, तो वही काफ़ी है। फिर उसने शायराना अंदाज़ में कहा-

एक वो है जो ख़ुदा को पूजती है और एक हम जो उसकी पूजा करते हैं।

अब देखना ये है कि कौन किसको पहले मिलता है

मैंने कहा, “वैसे एक बात तो है, आलोक — जिस तरह तुम दोनों ने एक-दूसरे को चाहा था, तुम्हारी शादी तो होनी ही चाहिए थी।” आलोक ने गहरी साँस ली और बोला, “हो तो जाती, पर ये समाज है ना, इससे कौन लड़ सकता है? देखो, एक तरफ़ ये भी सच है कि जिन माँ-बाप ने तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया, अगर किसी ऐसे इंसान के लिए, जिससे तुम अभी-अभी मिले हो, उन्हें छोड़ दो — तो तुमसे बड़ा पापी कोई नहीं। लेकिन अगर बच्चे कह रहे हैं कि वो एक-दूसरे को चाहते हैं तो उनकी बात भी तो सुननी चाहिए। क्या माँ-बाप को अपने बच्चों के लिए इस खोखले समाज से नहीं लड़ जाना चाहिए? शुरू में समाज की कुछ व्यवस्थाएँ थीं, ताकि समाज चल सके। लेकिन अब वही व्यवस्था, विवशता बन गई है और हम बिना सवाल किए उसे ढोए जा रहे हैं। एक तरफ़ यही समाज दिन-रात राधा नाम की रट लगाता है और दूसरी तरफ़ प्रेम का सबसे बड़ा दुश्मन बन जाता है। अगर कोई इनसे पूछ ले कि राधा, कृष्ण भगवान की क्या थीं — तो इनके पास कोई जवाब नहीं होता। फिर तरह-तरह के ऐसे तर्क देने लगते हैं, जिनका कोई सिर-पैर नहीं होता और पूछो कि तुम शिवरात्रि क्यों मनाते हो? क्या वो भगवान शंकर के प्रेम-विवाह की कहानी नहीं है? बाक़ी लोगों का क्या है , वो तो एक मिनट में बदनाम कर देते हैं।” फिर आलोक थोड़ी देर चुप रहा और बोला,

“**Lakhwinder wadali** साहब का एक गाना है”

लोकाँ बदनाम कर ती, नाल्ले मैं ते घीओ दी मिठी चूरी , लोकाँ बदनाम कर ती।"

फिर आलोक बोला, "चलो ठीक है भाई साहब, अब चला जाए।" हमने एक-दूसरे का मोबाइल नंबर ले लिया और अपने-अपने रास्ते हो लिए। इसके बाद आलोक से फोन पर बात होती रहती थी। वह अजमेर शिफ्ट हो गया था। वह बताता था कि वह रोज़ सुबह अदालत आता है, सिर्फ़ रश्मि की एक झलक देखने के लिए। फिर दोबारा कमरे पर चला जाता है और दिन-रात बस किताबें पढ़ता रहता है और लिखता रहता है। अब तो ये आलम हो गया है कि **आँख खुली तो कुर्सी की ओर चल दिए, लगने लगी तो बिस्तर की तरफ**। उसने यह भी बताया कि रश्मि कभी-कभी अपने बेटे को भी साथ में लाती है। वह बोला कि वह बहुत प्यारा सा है, नाम तो पता नहीं क्या रखा होगा। खैर, विष्णु भी एक-आध महीने में कमरे पर आ जाता है और हम बैठकर पुरानी यादें ताज़ा कर लेते हैं। विष्णु ने यह भी बताया कि अब रश्मि के पति की पोस्टिंग लंदन के हाई कमीशन में हो गई है और रश्मि यहाँ सिर्फ़ अपने बेटे के साथ रहती है। आलोक को अब अजमेर गए हुए तीन साल हो चुके थे। उसने यह भी बताया कि उसने शराब पीना छोड़ दिया है। डॉक्टर ने मना किया है कि अगर अब एक बूंद भी शराब पी तो जानलेवा साबित हो सकती है। मैं आलोक के लिए खुश था कि चाहे जैसे भी सही, पर अब उसने शराब पीना छोड़ दिया था। फिर 26 जुलाई की एक सुबह किसी अनजान व्यक्ति का फोन आया। उसने पूछा, "क्या आप किसी आलोक को जानते हैं?" मैंने कहा, "हाँ, जानता हूँ।" वह बोला, "मैं इंस्पेक्टर वर्मा बोल रहा हूँ। आपको तुरंत अस्पताल आना होगा।" मैं घबराकर बोला, "क्या हुआ?" उसने शांत आवाज़ में कहा, "इस व्यक्ति की कल शाम मृत्यु हो चुकी है। अभी पोस्टमार्टम के लिए अस्पताल लाया गया है। तीन–चार घंटे में आप इसकी बॉडी ले जा सकते हैं। इसके बटुए से एक पर्ची मिली है, उस पर दो नंबर लिखे थे — एक आपका और दूसरा

विष्णु नाम के किसी व्यक्ति का। फोन इसका कहीं मिल नहीं रहा। विष्णु तो रास्ते में है, आप भी देख लीजिए।" यह सुनते ही मेरे पैरों तले ज़मीन खिसक गई। मैंने बिना कुछ सोचे गाड़ी उठाई और निकल पड़ा। रास्ते भर मन में तरह-तरह के विचार उमड़ते रहे — कल रश्मि का जन्मदिन था , पता नहीं क्या हुआ होगा, सब तो ठीक चल रहा था , पिछले महीने ही तो बात हुई थी उससे, यही सोचते-सोचते मैं अजमेर के अस्पताल पहुँच गया। पोस्टमार्टम हो चुका था और बॉडी सौंपने की कार्रवाई चल रही थी। सामने एक व्यक्ति माथे पर हाथ रखे बैठा था और रो रहा था। पास जाकर पता चला — वह विष्णु था। मैंने काँपती आवाज़ में पूछा, "हुआ क्या था?"

विष्णु बोला, "कल सुबह तक तो आलोक बिल्कुल ठीक था। मुझे कल सुबह 11 बजे उसका फोन आया था, वो रो रहा था और कह रहा था — आज रश्मि का जन्मदिन है। मैं जानबूझकर वहाँ से थोड़ा आगे बैठा था जहाँ रोज बैठता था ताकि आज वो मुझे देख ले। आज रश्मि को गए हुए सात साल हो गए थे। आज मेरे सब्र का बाँध टूट गया था, लेकिन वो मेरे सामने से गुज़री , उसने मुझे देखा भी पर पहचाना नहीं और मुँह फेरकर चली गई। फिर मैंने कहा तूने अपना जो हाल बना रखा है, उसे देखकर शायद मैं भी तुझे नहीं पहचान पाता, अगर बीच-बीच में मिलता न रहता। मैं किसी काम से जयपुर आया हुआ हूँ,

अभी शांत हो जा, रो मत। कल आऊँगा, फिर बैठकर बात करेंगे।"

विष्णु सिसकते हुए बोला, "शायद उसके बाद उसने शराब पी ली। पुलिस वाले बता रहे थे कि सामने टेबल पर खाली बोतल रखी थी और वो ऐसे ही सोफे पर पड़ा था।" फिर विष्णु कहने लगा कि डॉक्टर ने उसे एक बूंद भी पीने से मना किया था। काश मैं कल यहाँ होता तो उसे पीने नहीं देता और वो आज हमारे बीच ज़िंदा बैठा होता।" इतना कहकर विष्णु फिर फूट-फूटकर रोने लगा। मैंने

बड़ी मुश्किल से उसे संभाला। मैंने पूछा, "आलोक के घरवाले?" विष्णु ने सिर झुकाकर कहा, "न आलोक का फोन मिल रहा है

और न ही मेरे पास उसके किसी घरवाले का नंबर है। इतने बड़े शहर में कहाँ ढूँढ़ेंगे उसका घर और शव को ज़्यादा देर रख भी नहीं सकते। अब उसकी कस्टडी हमें ही लेनी पड़ेगी। वैसे भी उसे घर गए शायद सालों हो गए" मैंने धीमे से कहा, "यार, रश्मि को तो एक बार बुला लो ,जिसके विरह में उसने अपने प्राण त्याग दिए दिए , कम से कम आखिरी बार उसे छू लेने दो, क्या पता उसे सच में मुक्ति मिल ही जाए।"

फिर विष्णु ने उसे फोन मिलाया और कहा — 'रश्मि जी, मैं विष्णु बोल रहा हूँ। क्या आप एक बार अस्पताल आ सकती हैं? आलोक कुछ ज़्यादा ही गंभीर है। कृपया एक बार मिल लीजिए। वह यहीं अजमेर के अस्पताल में है।' वह बोली — 'क्या हुआ?' फिर विष्णु बोला — 'कुछ नहीं, बस आप एक बार आ जाइए।' फिर आधे घंटे बाद रश्मि आ गई और बोली, "कहाँ है आलोक?" हम उसे मोर्चरी हाउस की तरफ़ ले जा रहे थे, तो वह उस कमरे के बाहर ही रुक गई और कहने लगी, "ये मुझे कहाँ ले जा रहे हो?" मैंने कहा, "एक बार चलो तो सही।" उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और वह बोली, "ये नहीं हो सकता।" हम बड़ी मुश्किल से उसे मोर्चरी हाउस में ले गए। जैसे ही हमने आलोक के चेहरे से चादर हटाई, वह उसके शव से लिपटकर रोने लगी। हमने बड़ी मुश्किल से उसे अलग किया। फिर वह दोबारा उसके पास गई और उसके गले से वह शॉल उतारने लगी जो अभी भी लिपटी हुई थी। उसे अपने सीने से लगाकर वह बोली, "ये शॉल मेरी ही है, आलोक ने इसे मेरे गले से उतारकर अपने गले में डाल लिया था और अब मैं इसे उसके गले से उतार रही हूँ। यह कहकर वह फिर से फूट-फूटकर रोने लगी। फिर आलोक के शरीर को एम्बुलेंस में रखा गया और हम श्मशान की ओर चल दिए। वहाँ पहुँचकर हम चारों ने मिलकर आलोक का शरीर चिता पर रखा। तीन लोग उसे जानते थे और चौथा

एम्बुलेंस का चालक था जो उसके शरीर को श्मशान तक लेकर आया था। मैं सोचने लगा — आलोक ने पूरी ज़िंदगी गुज़ार दी, लेकिन फिर भी उसे वे चार कंधे नसीब नहीं हुए जो सच में उसे जानते हों। मुझे उस एक कंधे की कमी बहुत खल रही थी। जैसे ही हम आलोक के ऊपर कफ़न डालने लगे , रश्मि ने उसे हटाकर अपनी शॉल से आलोक को ढक दिया। फिर उसने आलोक के माथे को चूमा और उसे गले लगाकर दोबारा रोने लगी। वह बोली — "बस दस मिनट रुक जाओ, थोड़ी देर के लिए मुझे आलोक के साथ रहने दो।" कुछ देर बाद हम आलोक के ऊपर लकड़ियाँ रखने लगे तो रश्मि कहने लगी — "ज़्यादा लकड़ियाँ मत रखो, उसकी छाती दब रही है।" मैंने विष्णु को इशारा किया और वह उसे धीरे से एक ओर ले गया। फिर रश्मि ने काँपते हाथों से आलोक को आग के हवाले कर दिया और अग्नि ने आलोक को अपने आगोश में ले लिया। उसके बाद हमने रश्मि को सब कुछ बता दिया। रश्मि बोली कि कल मैंने आलोक को देखा तो था, लेकिन ज़रा भी अंदाज़ा नहीं था कि वह वही है। मुझे थोड़ा-बहुत उसके जैसा लगा भी था, पर फिर सोचा कि वह यहाँ क्यों आएगा — वह भी इतने सालों बाद। किसी अनजान आदमी के पास जाना मैंने ठीक नहीं समझा, इसलिए मैं सीधे निकल गई। अगर मुझे पता होता तो मैं उसे गले से लगा लेती और जाने ही नहीं देती। फिर हमने रश्मि को भी जाने के लिए कहा। रश्मि बोली कि परसों वह आलोक की अस्थियाँ बहाने हरिद्वार अकेले ही जाएगी। लेकिन हमने उसे अकेले जाने से मना कर दिया और कहा कि हम तीनों साथ ही चलेंगे। फिर दो दिन बाद हमने आलोक की अस्थियाँ इकट्ठा कीं, उन्हें एक मटकी में रखा। मटकी को हाथों में लेकर रश्मि फूट-फूट कर रोने लगी और बोली — "कुछ साल पहले इन्हीं हाथों में मैंने आलोक का हाथ पकड़ा था और आज उन्हीं हाथों में उसकी अस्थियाँ हैं। अगर मैंने उसका हाथ न छोड़ा होता, तो शायद आज ये दिन न देखना पड़ता।" यह कहते-कहते रश्मि फिर से ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। इसके बाद हम हरिद्वार

के लिए चल पड़े। रास्ते में रश्मि बोली —"जब हम आख़िरी बार मिले थे, तब मैंने कोशिश की थी कि आलोक को मुझसे नफ़रत हो जाए। जब वह आख़िरी बार मुझे गले लगाना चाहता था लेकिन मैंने मना कर दिया था। मैं नहीं चाहती थी कि वह मुझे याद करके रोए। मैंने उसके हाथ से शादी का कार्ड भी छीनकर अपने पुराने बॉयफ्रेंड को दे दिया था ताकि वह उस कार्ड को बार-बार देखकर दुखी न हो। आख़िरी बार मैं उसी बॉयफ्रेंड के साथ गाड़ी में बैठकर चली गई ताकि उसे मुझसे नफ़रत हो जाए, मुझे भूल जाए और मुझे याद करके शराब न पिए। लेकिन इन सब बातों का कोई फायदा नहीं हुआ और वो बेचारा वह इस दुनिया से ही चला गया। मुझे तो यह सोच-सोचकर रोना आ रहा है कि उसके घरवालों पर क्या बीतेगी। उन्हें तो यह भी नहीं पता चलेगा कि उनके लड़के के साथ क्या हुआ था।" फिर हम हरिद्वार पहुँच गए और आलोक की अस्थियों को पानी में बहा दिया। रश्मि ने उस मटकी में से थोड़ी-सी राख निकाली और अपने पर्स में रख ली। हमने पूछने की कोशिश की, लेकिन उसने कुछ नहीं बताया। फिर हम श्राद्ध करने के लिए घाट पर बैठ गए। लेकिन जैसे ही आलोक की फोटो निकालकर रखी, पंडित जी बोले, "इस लड़के का श्राद्ध तो मैं सात साल पहले ही कर चुका हूँ।"

यह सुनकर रश्मि बोली, "आपका दिमाग खराब है क्या, पंडित जी? इसकी मृत्यु तो परसों ही हुई है।" पंडित जी फिर बोले, "नहीं, यह तो सात साल पहले ही मर गया था।" तभी मुझे वही घाट वाला दृश्य याद आ गया जो आलोक ने मुझे बताया था। मैंने दोनों को वह बात बता दी। यह सब सुनकर रश्मि फूट-फूटकर रोने लगी और बोली, "ऐसा क्या था मुझमें, जिसके फ़िराक़ में आलोक ने सात साल नरक झेला?" बड़ी मुश्किल से हमने रश्मि को शांत कराया और हम घाट से चलने ही वाले थे कि सामने से एक अघोरी बाबा आए। उन्होंने रश्मि के ऊपर विभूति फेंकी और बोले, "मैंने पहले ही उस लड़के से कहा था — एक दिन वो आएगी, इसी घाट पर, इसी जगह पर और तेरा श्राद्ध करेगी।

तभी तुझे मुक्ति मिलेगी। वो मूर्ख जीते-जी अपना श्राद्ध करने चला था। यही नियति थी। उसे मरना ही था और तेरे हाथों उसका श्राद्ध होना था। ये चीज़ तुम्हारे जन्म होने से कई साल पहले लिखी जा चुकी थी। तुम चाहे दुनिया में कहीं भी चले जाते, उसकी मृत्यु के नज़दीक आते ही तुम दोनों को एक स्थान पर आना ही था और देखो नियति ने तुम्हें फिर मिला दिया।" फिर अघोरी ने मेरी तरफ घूरकर कहा, "यह लड़का जो मरा है, तुम्हारा क्या लगता था? और यह लड़की, जिसे तुम साथ लिए-लिए फिर रहे हो, यह तुम्हारी क्या लगती है? तुम्हारा इससे क्या वास्ता है? तुम्हें मेरी ये बातें आज मज़ाक लग रही होंगी, लेकिन एक दिन तुम इसी लड़की के साथ मेरे पास दोबारा आओगे। तब मैं पूछूँगा कि अब तो नियति पर भरोसा हो गया होगा तुम्हें।" मैंने आश्चर्य भरी निगाहों से पहले रश्मि की तरफ देखा, फिर विष्णु की तरफ और जब अघोरी की तरफ दोबारा देखने लगा तो एक तेज रोशनी आँखों में पड़ी। ऐसा लगा जैसे अघोरी अचानक अंतर्ध्यान हो गया हो और फिर वह हमें दोबारा कहीं दिखाई नहीं दिया। फिर हम वापस अजमेर आ गए। रश्मि बोली, "मुझे आलोक के कमरे का पता बता दो। अब मैं उसके कमरे पर शिफ्ट हो जाऊँगी, तब जाकर मन थोड़ा-बहुत शांत होगा, नहीं तो मैं अकेली पागल हो जाऊँगी।" फिर विष्णु ने उसे आलोक के कमरे का पता और चाबी, दोनों दे दिए। फिर हम तीनों ने एक-दूसरे के फोन नंबर लिए और अलविदा कहा। उसके बाद रश्मि आलोक के कमरे पर चली गई, विष्णु अपने घर चला गया और मैं भी वापस आ गया। हालाँकि हम तीनों के पास एक-दूसरे के नंबर थे, पर किसी के पास से भी कभी एक-दूसरे को कॉल नहीं आया। शायद हम तीनों ही आलोक के साथ इस छोटी-सी उम्र में घटी उस घटना को एक बुरा सपना समझकर भूलना चाह रहे थे। फिर आलोक की मृत्यु के पूरे एक साल बाद, यानी 25 जुलाई को — आज रश्मि का जन्मदिन भी था और आलोक की मृत्यु भी इसी दिन हुई थी — रश्मि का फोन आया। वह बोली कि कल वह अपने बेटे को साथ लेकर

अपने पति के पास लंदन जा रही है। वहाँ वह एक कैफ़े और लाइब्रेरी खोलेगी, जहाँ वह आलोक की इन सारी किताबों को याद के तौर पर रखेगी। आलोक ने अपने कमरे में मेरी एक-एक याद सहेजकर रखी है। उसने सच में मेरे शरीर से नहीं, बल्कि मेरी आत्मा से प्यार किया था। वैसे बात भी सही है — रूह जैसी पवित्र चीज़ मांस और खून में सनी हुई कैसे रह सकती है, उसके लिए तो कोई अलग ही स्थान होना चाहिए। फिर रश्मि बोली, "आलोक ने हर एक किताब में कुछ न कुछ ज़रूर हाइलाइट किया है। इन हाइलाइट की हुई पंक्तियों को पढ़कर अब लगता है जैसे उसे पहले से ही पता था कि मैं उसके कमरे में आऊँगी और इन किताबों को पढ़ूँगी। आलोक की लिखी हुई एक अधूरी किताब भी पड़ी है, उसे मैं लंदन जाकर ही पूरा करूँगी। साथ ही आलोक ने एक डायरी भी बना रखी है, जिसमें उसने शायरी की कटिंग काटकर चिपका रखी है—जैसे बचपन में हम किया करते थे, बिल्कुल वैसे ही। और वो सारी शायरी जैसे सिर्फ मेरे लिए ही लिखी हुई है।" फिर रश्मि मुझे वो शायरी ऐसे सुनाने लगी, जैसे उसने उन्हें सिर्फ पढ़ा नहीं, जिया हो। उसकी आवाज़ में ऐसा एहसास था मानो वह मुझे फोन पर नहीं, बल्कि सामने बैठे आलोक को सुना रही हो।

तुम जब आओगी तो खोया हुआ पाओगी मुझे
मेरी तन्हाई में ख्वाबों के सिवा कुछ भी नहीं
मेरे कमरे को सजाने की तमन्ना है तुम्हें
मेरे कमरे में किताबों के सिवा कुछ भी नहीं
-जौन एलिया

*

यही बहुत है के दिल उसको ढूँढ लाया है
किसी के साथ सही वो नज़र तो आया है

कहाँ आके रूकने थे रास्ते
कहाँ मोड़ था उसे भूल जा
वो जो मिल गया उसे याद रख
जो नहीं मिला उसे भूल जा
वो तेरे नसीब की बारिशें
किसी और छत पर बरस गई
दिल-ए-बेख़बर मेरी बात सुन
उसे भूल जा उसे भूल जा
-अमजद इस्लाम अमजद

*

नहीं है मुनहसिर इस बात पर यारी हमारी
कि तू करता रहे नाहक़ तरफ़दारी हमारी
अंधेरे में हमें रखना तो ख़ामोशी से रखना
कहीं बेदार हो जाए न बेदारी हमारी
मगर अच्छा तो ये होता कि हम इक साथ रहते
भरी रहती तेरे कपड़ों से अलमारी हमारी
हम आसानी से खुल जाएँ मगर इक मसअला है
तुम्हारी स्तह से ऊपर है तहदारी हमारी
कहानी-कार ने किरदार ही ऐसा दिया है
अदाकारी नहीं लगती अदाकारी हमारी
-जव्वाद शैख़

*

कोई इतना प्यारा कैसे हो सकता है
फिर सारे का सारा कैसे हो सकता है
-जव्वाद शैख़

*

जाने किस समत से आती हैं अचानक तेरी याद
और फिर कुछ भी सिमटने में नहीं आता है
ख़ुद को मसरूफ़ किए रखने की कोशिश करना
क्या तेरी याद के ज़ुमरे में नहीं आता है

-जव्वाद शैख़

*

किसी की बात बहुत सुनने वाली होती है
हमारी खामोशी होती है देखने वाली
कोई गुनाह नहीं मेरी राह में हाइल
कोई निगाह नहीं मुझको टोकने वाली
मैं ऐसी उम्र से दुख झेलने लगा 'जव्वाद'
जो आम तौर पे होती है खेलने वाली

-जव्वाद शैख़

*

दरगुज़र जितना किया है वही काफ़ी है मुझे
अब तुझे क़त्ल भी कर दूँ तो मुआफ़ी है मुझे
इस से अंदाज़ा लगाओ कि मैं किस हाल में हूँ
ग़ैर का ध्यान भी अब वादा-ख़िलाफ़ी है मुझे

-जव्वाद शैख़

*

इक मोहब्बत के हवाले से मुझे जानते हैं
वो सभी लोग जो अच्छे से मुझे जानते हैं
आम लोगों में उदासी है तारूफ मेरा

और शायर मेरे लहजे से मुझे जानते हैं
सोने वालों से भी निस्बत कोई होगी मेरी
जागने वाले तो गिर्ये से मुझे जानते हैं
सब ने रक्खी हुई है कोई निशानी मेरी
जैसे कुछ आँख के हल्क़े से मुझे जानते हैं
मैं किसी और त'अल्लुक़ से उन्हें देखता हूँ
वो किसी और इलाक़े से मुझे जानते हैं
सच तो ये है कि मुझे लोग नहीं जान सके
ख़ास कर जो बड़े दावे से मुझे जानते हैं
-जव्वाद शैख़

*

हाथ में क्या नहीं कि तुम से कहें
हम को ज़ेबा नहीं कि तुम से कहें
दिल किसी वजह से दुखी है मगर
कुछ भी ऐसा नहीं कि तुम से कहें
ज़ेहन उलझा हुआ है कुछ दिन से
लेकिन इतना नहीं कि तुम से कहें
तुमसे कहना हुआ तो कह देंगे
हमसे कहना नहीं की तुमसे कहे
तुम को आता नहीं कि हम से कहो
हम से होता नहीं कि तुम से कहें
कहे देते हैं दिल की बात चलो
ख़ैर बनता नहीं कि तुम से कहें
-जव्वाद शैख़

*

आप जैसों के लिए इस में रखा कुछ भी नहीं
लेकिन ऐसा तो न कहिए कि वफ़ा कुछ भी नहीं
आप कहिए तो निभाते चले जाएँगे मगर
इस ताल्लुक़ में अज़िय्यत के सिवा कुछ भी नही
मैं किसी तरह भी समझौता नहीं कर सकता
या तो सब कुछ ही मुझे चाहिए या कुछ भी नहीं
कैसे जाना है कहाँ जाना है क्यूँ जाना है
हम कि चलते चले जाते हैं पता कुछ भी नहीं
अब मैं क्या अपनी मोहब्बत का भ्रम भी न रखूँ
मान लेता हूँ कि उस शख़्स में था कुछ भी नहीं
मैंने दुनिया से अलग रह के भी देखा 'जव्वाद'
ऐसी मुँह-ज़ोर उदासी की दवा कुछ भी नहीं
-जव्वाद शैख़

*

तो क्या ये आख़िरी ख़्वाहिश है, अच्छा भूल जाऊँ
जहाँ भी जो भी है तेरे अलावा, भूल जाऊँ
तो क्या ये दूसरा ही इश्क़ असली इश्क़ समझूँ
तो पहला तुजूर्बे की जेल में था, भूल जाऊँ
तो क्या इतना ही आसाँ है किसी को भूल जाना
कि बस बातों ही बातों में भुलाता भूल जाऊँ
कभी कहता हूँ उस को याद रखना ठीक होगा
मगर फिर सोचता हूँ फायदा क्या, भूल जाऊँ
ये कोई क़त्ल थोड़ी है कि बात आई गई हो
मैं और अपना नज़र-अंदाज़ होना भूल जाऊँ
कोई कब तक किसी की बेवफ़ाई याद रक्खे

बहुत मुमकिन है मैं भी रफ़्ता-रफ़्ता भूल जाऊँ

-जव्वाद शैख़

*

अपने समान को बाँधे हुए इस सोच में हूँ
जो कहीं के नहीं रहते वो कहाँ जाते है

-जव्वाद शैख़

*

दूर जाने का कहोगे तो करीब आयेगा
रूठना उसको मनाने के लिए होता है
तुम इसे मेरी शिकायत ना समझना लेकिन
ये रवैया तो जमाने के लिए होता है

-जव्वाद शैख़

*

दुख ऐसा चाहिए कि मुसलसल रहे मुझे
और उस के साथ साथ अनोखा भी चाहिए
इक ज़ख़्म मुझ को चाहिए मेरे मिज़ाज का
यानी हरा भी चाहिए गहरा भी चाहिए
क्या है जो हो गया हूँ मैं थोड़ा बहुत ख़राब
थोड़ा बहुत ख़राब तो होना भी चाहिए

-जव्वाद शैख़

*

मैं किसी और को सोचूँ तो मुझे होश आये
मैं किसी और को देखूँ तो ये नशा टूटे
इतनी जल्दी तो संभलने की तवक्को ना करो

वक़्त ही कितना हुआ है मेरा सपना टूटे

-जव्वाद शैख़

*

तुमने भी उनसे ही मिलना होता हैं
जिन लोगों से मेरा झगडा होता है
उसके गाँव की एक निशानी ये भी हैं
हर नलके का पानी मीठा होता है
मैं उस शख़्स से थोड़ा आगे चलता हूँ
जिसका मैंने पीछा करना होता हैं
तुम मेरी दुनिया में बिल्कुल ऐसे हो
ताश में जैसे हुक्म का इक्का होता हैं

-ज़िया मज़कूर

*

बेसबब उसके नाम की मैंने
काट तो ली थी ज़िंदगी मैंने
वो मुझे ख़्वाब में नज़र आया
और तस्वीर खेंच ली मैंने
आपका काम हो गया साहब
लाश दरिया में फेंक दी मैंने
एक वो बै- हिजाब और उसपर
डाल रखी थी रोशनी मैंने

-ज़िया मज़कूर

*

मेरे कमरे में एक ऐसी खिड़की है
जो उन आँखों के खुलने पर खुलती है

ऐसे तेवर दुश्मन ही के होते है
पता करो ये लड़की किसकी बेटी है
इस जंगल में रात को रुकना ठीक नहीं
इस से आगे तुम लोगों की मर्ज़ी है
-ज़िया मज़कूर

*

जिंदगी तेरे एक धक्के से
रोड़ पर आ गए है कच्चे से
मैं वहीं हूँ, यकीन करो मेरा
मैं जो लगता नहीं हूँ चेहरें से
हमको नीचे उतार लेंगे लोग
इश्क़ लटका रहेगा पंखे से
-ज़िया मज़कूर

*

मुख़्तलिफ़ दास्तां सुनाता है
मैंने जिस से भी तेरा पूछा है
हमे आदत है धीमे लहजे की
और बुजुर्गों को ऊँचा सुनता है
-ज़िया मज़कूर

*

इश्क़ की मिसालों मे पुकारेंगे मुझे
जब ये लोग पंखे से उतारेंगे मुझे
तवायफ़ो को गले लगाकर सुकून अगर मिलता

तो आशिक़ो का इलाज़ होता कोठे पे
हुआ ना कोई अब तक इतना परेशान
कोई कैसे समझेगा परेशानी मेरी
मेरे घर से हटा दिये गए चाकू , छुरी, रस्सी और पंखे
मेरा इश्क़ कसियत है मेरे घर वालों के लिए
किसी को कहीं दिख जाँऊ तो बताना मुझे
एक अरसा हुआ मैं खुद से मिला नहीं
गया जो छोड़ कर तो फिर ना आया वापिस
अभी तक मेरे जेहन में घूम रहा उसका वो खुदा हाफिज़

-अज्ञात

*

दस्त-ए-ता'ज़ीर चूमने वाले
हम हैं ज़ंजीर चूमने वाले
ये हक़ीक़त-पसंद थोड़ी हैं
तेरी तस्वीर चूमने वाले
रह गया खेल शाहज़ादी का
मर गए तीर चूमने वाले
तेरे ख़त को शिफ़ा समझते हैं
तेरी तहरीर चूमने वाले
सिर्फ़ बातें ही कर सका राँझा
ले गए हीर चूमने वाले

-अब्दुल्ला जरीम

*

तेरे तसव्वुरात से आगे नहीं गया
ये दिल तवहहुमात से आगे नहीं गया

जो बीच राह छोड़ गया शुक्र है वो शख़्स
मेरी तवक़्क़ु'आत से आगे नहीं गया
शायद उसे पसंद थीं झूटी नुमाइशें
लेकिन मैं दिल की बात से आगे नहीं गया
जज़्बात-ए-दिल को वो भी न कुछ ढंग दे सका
मैं भी तकल्लुफ़ात से आगे नहीं गया
तोहफ़ा भी उस के वास्ते कंगन लिया 'ज़रीम'
वल्लह मैं उस के हाथ से आगे नहीं गया

-अब्दुल्ला जरीम

*

जाने क्या कुछ है तुझ में ज़म मेरा
हाथ मत छोड़ एक दम मेरा
तुम मिरे पीछे पीछे मत आओ
इतना रौशन नहीं क़दम मेरा
मुस्कुरा कर न देखिए मुझ को
काम इतना नहीं है कम मेरा
लेना देना नहीं फ़लक से कुछ
सीधा रखता है मुझ को ख़म मेरा
तेरे माँ-बाप की हो उम्र दराज़
खा गया मेरी माँ को ग़म मेरा

-अब्दुल्ला जरीम

*

फिर रश्मि करीब एक घंटे तक मुझे शायरी सुनाती रही। उसके बाद फ़ोन कट गया और खामोशी बोलती रह गई।

फिर उसके बाद अगले साल 14 अगस्त को रश्मि का मैसेज आया। उसमें लिखा था कि उसने वहाँ **“*London Cafe and Book House*”** के नाम से एक कैफ़े खोल लिया है। अब वहाँ बहुत से लोग आने लगे हैं। उसने लिखा — “तुम भी समय निकालकर ज़रूर आना।” उसने यह भी बताया कि उसने आलोक की लिखी हुई किताब पूरी कर दी है और उसे मुझे भेज रही है। अंत में बस इतना लिखा था — “Bye.” थोड़ी देर बाद एक संदेश आया, जिसमें एक पीडीएफ़ फ़ाइल थी। मैंने उसे खोलकर पढ़ना शुरू किया।

कहानी जारी रहेगी....................